आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियाज इकानमी

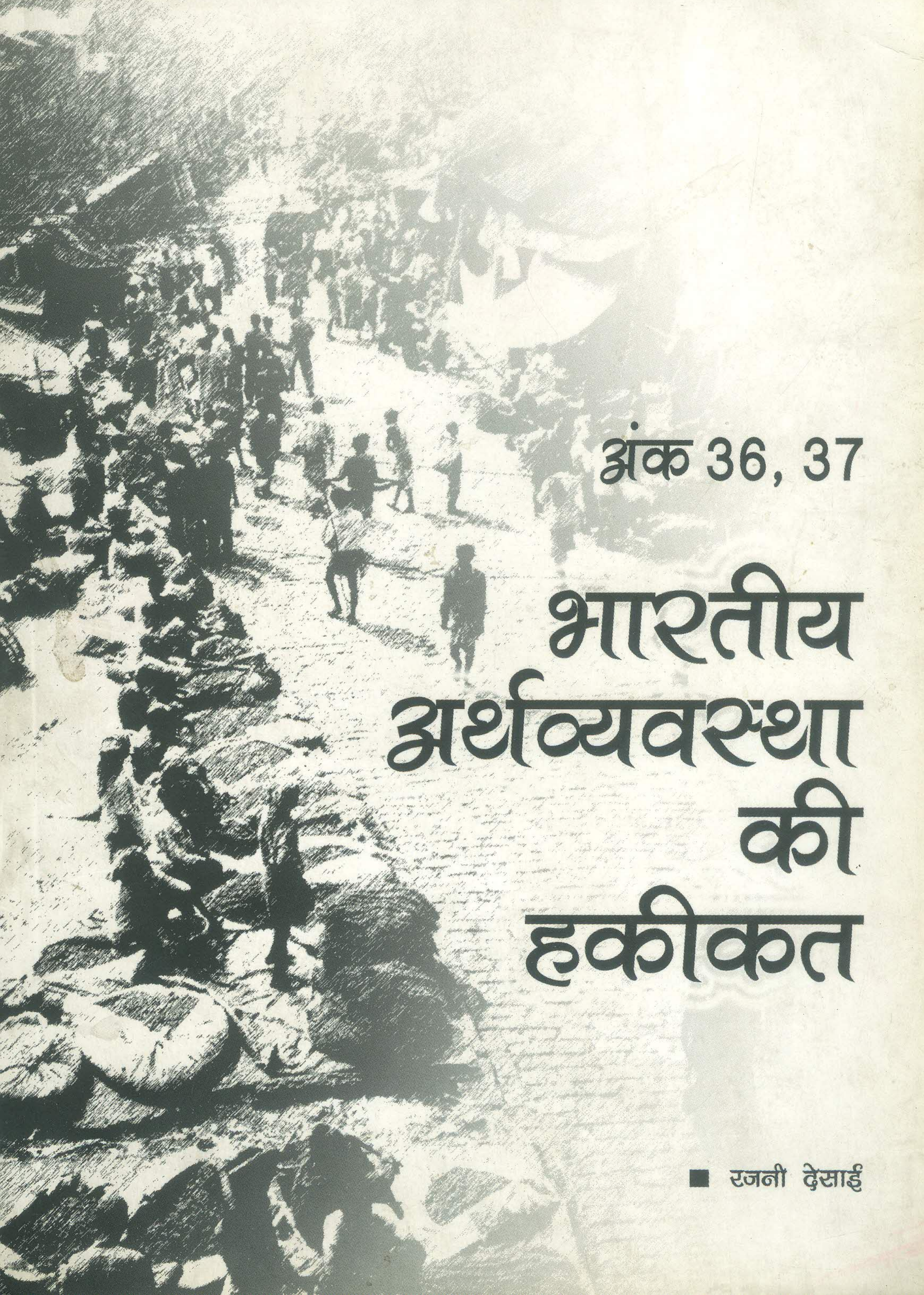

अंक 36, 37

भारतीय अर्थव्यवस्था की हकीकत

■ रजनी देसाई

रिसर्च यूनिट फॉर पॉलिटिकल इकोनामी
(भूतल) सिघवा एस्टेट,
एन. ए. सावंत मार्ग
कोलाबा, मुम्बई – 400 005
ई–मेल – info@rupe-india.org
वेबसाईट – http://www.rupe-india.org

पॉपुलर एजुकेशन एण्ड एक्शन सेंटर
प्रथम तल, एफ – 93, कटवारिया सराय
नई दिल्ली – 110 016
ई–मेल – peaceact@vsnl.com
वेबसाईट – http://www.appealgroup.net

इस पुस्तिका की समस्त सामग्री आस्पेक्टस् ऑफ इंडियाज इकोनामी के अंक 36 एवं 37 पर आधारित है। जन साधारण तक इसे पहुँचने के उद्देश्य से हम इसका प्रकाशन हिन्दी में कर रहें हैं। इसकी मूल अंग्रेजी प्रति रिसर्च यूनिट फॉर पॉलिटिकल इकोनामी की वेब साइट http://www.rupe-india.org पर उपलब्ध है।

द रिसर्च यूनिट फॉर पोलिटिकल इकोनामी (रूपे) के बारे में

'पीपुल्स रिसर्च ट्रस्ट' के द्वारा स्थापित 'द रिसर्च युनिट फॉर पोलिटिकल इकोनामी' (रूपे.) मुम्बई (भारत) में अवस्थित है। रूपे स्वैच्छिक योगदान एवं व्यक्तिगत सहयोग से प्राप्त अत्यन्त सीमित वित्तीय साधनों से संचालित होता है। इसका सम्बन्ध किसी अन्य संस्था/संस्थान से नहीं है।

रूपे भारत के आर्थिक जीवन एवं उससे सम्बद्ध संस्थानों के विभिन्न पहलुओं की सैद्धान्तिक एवं अनुभव आधारित ज्ञान के आधार पर विश्लेषण करने की प्रक्रिया में संलग्न है। रूपे जानकारी के संकलन, विश्लेषण एवं सूचनाओं तथा आंकड़ों को लोगों के समक्ष इस उद्देश्य से रखते आ रहे हैं कि लोग अपने जीवन के दिन-प्रतिदिन के अर्थशास्त्र को संचालित करने वाली प्रक्रिया को समझ सकें।

रूपे अपने प्रकाशनों के माध्यम से भारतीय आर्थिक जीवन के रोजमर्रा के मुद्दों को इस तरह से व्याख्यायित करते हैं जो सहज ढंग से समझा जा सके तथा देश के राजनीतिक अर्थशास्त्र से उसके सम्बन्धों को स्पष्ट कर सके।

रूपे द्वारा प्रकाशित "Aspects of India's Economy" अंक 36 & 37 का हिंदी रूपांतर आपके समक्ष प्रस्तुत है।

अवरुद्ध विकास, परजीविता की पराकाष्ठा

साल 2004 की शुरुआत में सरकार भारतीय अर्थव्यवस्था की दशा–दिशा को लेकर एक उन्माद सा फैलाने की बेइंतिहा कोशिश कर रही है। जनसंचार माध्यम तन–मन से ये साबित करने में जुट गए हैं कि इस जुनून की एक ठोस वजह है। शेयर बाजार के सूचकांक दिन–दूनी, रात–चौगुनी तेजी से लपकते जा रहे हैं। बम्बई स्टॉक एक्सचेंज का संवेदी सूचकांक (सेंसेक्स) अप्रैल 2003 के आखिरी हफ्ते से जनवरी 2004 के बीच दोगुना हो चुका है और विदेशी संस्थागत निवेशक बोरे भर–भर कर शेयर बाजार में झोंक रहे हैं। चालू वित्त वर्ष की पहली तीन तिमाहियों में व्यावसायिक निगमों के मुनाफे भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। पिछले एक साल के दौरान विदेशी मुद्रा भंडार में 30 अरब डॉलर की कल्पनातीत वृद्धि हो चुकी है। हाल ही में विदेशी मुद्रा भंडार भारी जोशो–खरोश के माहौल में 100 अरब डॉलर के जादुई अंक को भी पार कर गया। केंद्रीय सांख्यिकी संगठन का अनुमान है कि इस साल की जीडीपी (सकल घरेलू उत्पाद) वृद्धि दर 8 प्रतिशत को भी छू सकती है। वित्त मत्रालय ने भी देश की अनजान जनता को अपनी इन उपलब्धियों से परिचित कराने के लिए "इंडिया शाइनिंग" (जिसका हिन्दी में तर्जुमा किया गया है "भारत उदय") मीडिया अभियान के लिए कमर कस ली है। सरकार ने इस अभियान के लिए सरकारी खजाने से 500 करोड़ रुपए के बजट को भी हरी झंडी दिखा दी है। इसी जोशो–खरोश के बीच अप्रैल में चुनाव होने वाले हैं। प्रेस और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया भी खबरनवीसी के नाम पर सरकार के इसी नारे की दुकान लगाकर बैठ गया है।

विदेशी मुद्रा भंडार में अचानक हुई यह वृद्धि कोई ऐसी उपलब्धि नहीं है जिस पर लोग इस तरह छाती पीटने लगें। यह पैसा मुख्य रूप से विदेशी सट्टा पूंजी की आमद से इकट्ठा हुआ है क्योंकि विदेशी सट्टा पूंजी को भारत के वित्तीय बाजारों में मुनाफे की ठोस संभावनाएं दिखाई दे रही हैं। वैसे भी, जब इसी पैसे को देश के विदेशी मुद्रा भंडार में जोड़ दिया जाता है तो इस पैसे को रिजर्व बैंक के जरिए महज एक या दो प्रतिशत वार्षिक की दर पर विदेशों में निवेश करना आवश्यक होता है। इतना ही नहीं, विदेशी निवेशक जिस तरह रातोंरात इतनी सारी पूंजी लेकर यहां आए हैं उसी तरह पलक झपकते इस सारी पूंजी

को लेकर वह रफ्फूचक्कर भी हो सकते हैं और इसके विनाशकारी परिणामों का अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं है।

शेयर बाजार में जो उछाल आया है वह भी इन विदेशी सट्टेबाजों की ही मेहरबानी है। 1992 से अब तक वह 30 अरब डॉलर (सकल) की सट्टा पूंजी लाए हैं, और उसी के सहारे अब वह शेयरों की कीमतों में उतार–चढ़ाव को तय कर रहे हैं। कुछ रिपोर्टों से पता चलता है कि बम्बई स्टॉक एक्सचेंज के 'फ्री फ्लोट' शेयरों (यानी ऐसे शेयर जो निवेशकों के लिए सामान्य रूप से उपलब्ध हैं) में से 45 प्रतिशत (बाजार मूल्य के मुताबिक) इन्हीं निवेशकों के पास हैं।[1] अनुमान लगाया जाता है कि शीर्षस्थ 10 भारतीय कंपनियों के तीस प्रतिशत और शीर्षस्थ 50 भारतीय कंपनियों के 20 प्रतिशत शेयर इन निवेशकों के पास जा चुके हैं।[2] मगर भारत के शेयर बाजारों में इस विदेशी निवेश ने नब्बे के दशक में भारतीय उद्योग जगत के उत्पादक निवेश में किसी तरह के इजाफे को जन्म नहीं दिया।[3]

वस्तुतः समूचा "इंडिया शाइनिंग" अभियान एक आंकड़ों की कलाबाजी के अलावा कुछ भी नहीं है। अर्थव्यवस्था में कहीं कोई उल्लेखनीय उभार नहीं आया है। लोगों और उनके उत्पादक भविष्य की असली दशा – जो किसी भी अर्थव्यवस्था की सेहत का असली पैमाना होती है – आज भी भयावह बनी हुई है।

आगे दिए गए आलेखों में हम सरकार के इन्हीं दावों की कलई खोलना चाहते हैं। हम इस कवायद में बहुत सारे आंकड़ों और गणनाओं का सहारा लेने के लिए अपने पाठकों से माफी मांगते हैं। क्योंकि सरकार और शासक वर्ग का प्रोपेगंडा आंकड़ों की बौछार के रूप में ही हम तक पहुंच रहा है इसलिए हमारा फर्ज बन गया है कि हम इन आंकड़ों को बेपर्द करें और लोगों को सच्चाई से अवगत कराएं।

अपने विश्लेषण में हमने भाजपा शासनकाल को कांग्रेस या संयुक्त मोर्चा के शासनकाल से अलग करके नहीं देखा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि तीनों सरकारों की नीतियों में कोई फर्क नहीं रहा है। यही वजह है कि कोई भी बड़ी संसदीय पार्टी वर्तमान आर्थिक नीतियों पर मुकम्मल हमला बोलने की हालत में नहीं है। इन सभी पार्टियों ने या तो सत्ता में रहते हुए या किसी अन्य मौके पर दूसरी पार्टी की सरकार को इन नीतियों के बारे में समर्थन दिया है। मिसाल के तौर पर, 'ढांचागत समायोजन', 'उदारीकरण', और 'वैश्वीकरण' का पूरा कार्यक्रम 1991 में कांग्रेस की सरकार ने ही शुरू किया था। इसके बाद राशन की कीमतों में बार–बार इजाफा हुआ और 1997 के बाद यानी लक्ष्यकेंद्रित सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (टीपीडीएस) लागू होने के बाद खाद्य उपभोग में सबसे भारी गिरावट दर्ज की गई। यह योजना संयुक्त मोर्चा सरकार ने लागू की थी और बाद में भाजपा के नेतृत्व वाली राजग सरकार भी उसी रास्ते पर चलती रही। आयकर में सबसे बड़ी रियायतें और कर चोरों को अब तक की सबसे बड़ी (और सबसे निदंनीय) राहत भी संयुक्त मोर्चा सरकार ने ही दी थी। स्वदेशी और आत्मनिर्भरता के राग अलापते हुए सत्ता में पहुंची भाजपा तो राष्ट्रीय

अर्थव्यवस्था को बहुराष्ट्रीय निगमों के हवाले कर देने में तमाम पिछली सरकारों से एक कदम आगे निकल गई। मगर उसके ये सारे क्रियाकलाप उस रास्ते पर चलने की तार्किक परिणति थे जिसे हमारी सरकार ने 1991 में ही अपनाना शुरू कर दिया था।

फलस्वरूप, मौजूदा हालात की हमारी समालोचना इस पूरी अवधि में अपनाई गई नीतियों, एकसमान आर्थिक नीतियों वाली विविध राजनीतिक पार्टियों और इस परिजीविता को बढ़ावा देने वाली मौजूदा व्यवस्था पर ही केंद्रित है।

- **इस दौरान सबसे पहले हमने 2003–04 में जीडीपी के मोर्चे पर आए 8.1 प्रतिशत के नाटकीय उभार के दावों पर विचार किया है।**
- **दूसरे, हमने औद्योगिक क्षेत्र के वास्तविक प्रदर्शन और औद्योगिक निवेश की दयनीय स्थिति पर विचार किया है।**
- **तीसरे, हमने इस बात की पड़ताल की है कि जब अर्थव्यवस्था मंदी में थी तब भी उद्योग जगत इतना मुनाफा कहां से खींच रहा था।**
- **चौथे, हमने दिखाया है कि जब उत्पादक क्षेत्रों में पैसे की किल्लत दिन–पर–दिन बढ़ती जा रही थी तब भी दूसरे क्षेत्रों के लिए पैसे की व्यवस्था कहां से की जा रही थी।**
- **पांचवें, हमने दर्शाया है कि विदेशी पूंजी के लिए आधार तैयार करते हुए वर्तमान नीतियां क्षेत्रीय असमानताओं को किस प्रकार और गहरा करती जा रही हैं।**
- **छठा, हमने यह समझने का प्रयास किया है कि है कि नई आर्थिक नीति की शुरुआत से अब तक भूख और गरीबी (अपने वास्तविक अर्थों में) किस भयानक स्तर तक पहुंच गई है। (इसी अंक के एक अन्य लेख में इस बात पर ज्यादा विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।)**
- **सातवां, हमने नब्बे के दशक की शुरुआत से बेरोजगारी के स्तर में हुए भारी इजाफे को उजागर किया है (इस पर भी एक अन्य लेख में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है)।**
- **और अंत में, हमने भारतीय कृषि की दशा–दिशा पर विचार किया है जो अभी भी भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार है और अब एक भीषण संकट की गिरफ्त में फंस चुकी है।**

टिप्पणियां :

1. वी. श्रीधर, फ्रंटलाइन, 5/12/03.

2. परांजॉय गुहा–ठाकुर्ता, ट्रिब्यून, 8/11/03.

3. सुशील खन्ना, "हैज़ इंडिया गेन्ड फ्रॉम कैपिटल एकाउंट लिबरलाइज़ेशन? प्राइवेट कैपिटल फ्लोज़ एंड दि इंडियन इकॉनॉमी इन दि 1990ज़", दिसंबर 2002, www.ideasnetwork.org.

1.

जीडीपी में इजाफा

नब्बे के दशक की शुरुआत (1991) में 'उदारीकरण' कार्यक्रम लागू होने के बाद से सरकारी आंकड़ों की विश्वसनीयता और भी घट गई है। अब योजना आयोग और केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन (सीएसओ) का समूचा तंत्र दिन–रात शासक दल के चुनाव अभियान को कामयाब बनाने के लिए एक से एक आलीशान आंकड़े पेश करने में जुटा हुआ है। हम पूरे यकीन के साथ कह सकते हैं कि साल भर के भीतर, यानी चुनाव खत्म हो जाने के कुछ ही माह बाद इन आंकड़ों में भारी संशोधन कर लिए जाएंगे। इसके बावजूद इन आंकड़ों पर भी एक नजर डाल लेने में कोई हर्ज नहीं है।

वित्त वर्ष 2003–04 के दौरान जीडीपी वृद्धि दर को लेकर भले ही जश्न का माहौल रहा हो मगर इस वृद्धि का सरकार द्वारा उठाए गए कदमों से कोई लेना–देना नहीं है। यह वृद्धि दर मुख्य रूप से 2003 के अच्छे मानसून का नतीजा है जिससे कृषि क्षेत्र में पिछले सालों के नुकसान की एक हद तक भरपाई हो गई है। कृषि क्षेत्र में मिले अच्छे नतीजों से क्रमशः औद्योगिक उत्पादों की मांग भी कुछ–कुछ सुधरने लगी है। 'सेवा' क्षेत्र – यानी अर्थव्यवस्था का अनुत्पादक क्षेत्र – भी तेजी से फैला है मगर यह मोटे तौर पर उत्पादक क्षेत्र के ऊपर बढ़ते बोझ का संकेत है।

कृषि क्षेत्र : आंकड़ों की जादूगरी

मान लीजिए की एक व्यक्ति किसी खास साल में 100 जोड़ी जूते बनाता है और अगले साल उसका उत्पादन 10 प्रतिशत कम यानी केवल 90 जोड़े रह जाता है। तीसरे साल में वह दूसरे साल के मुकाबले 10 प्रतिशत ज्यादा उत्पादन करता है। अब इस बात को जरा ध्यान से समझ लीजिए। तीसरे साल में 10 प्रतिशत का इजाफा निश्चय ही प्रभावशाली लगता है मगर वास्तविकता यह है कि तीसरे साल में वह केवल 99 जोड़ी

यानी पहले साल के मुकाबले एक जोड़ी कम जूते ही बना पाया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि तीसरे साल की 10 प्रतिशत वृद्धि दूसरे साल के उत्पादन के संकुचित आधार पर आंकी जा रही है।

इसी तरह, जब सीएसओ ऐलान करता है कि 2003–04 में कृषि जीडीपी की वृद्धि दर 9.1 प्रतिशत रहेगी तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि 2002–03 में इस वृद्धि दर में 5.2 प्रतिशत की गिरावट आ चुकी थी। इसका आशय यह है कि 2003–04 का कृषि जीडीपी पिछले दो सालों के मुकाबले केवल 3.4 ऊपर है। इसका मतलब है कि 2001–02 से 2003–04 के बीच औसत कृषि जीडीपी वृद्धि दर केवल 1.7 प्रतिशत रही है।

कृषि जीडीपी की गणना का तरीका भी हाल के सालों में संदेहास्पद रहा है। इस बीच 1993–94 से एक नई आधिकारिक श्रृंखला भी लागू की गई है। इस नई व्यवस्था का नतीजा यह हुआ है कि जिन फसलों की उपज के बारे में सरकार के पास पर्याप्त विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध नहीं होते हैं, अब उन फसलों की उपज के अनुमानित स्तर को पुरानी श्रृंखला के मुकाबले काफी बढ़ा–चढ़ाकर दर्ज किया जा सकता है। इसका नतीजा यह होता है कि कृषि जीडीपी वृद्धि दर वास्तविक वृद्धि दर से कहीं ज्यादा ऊंची दिखाई देने लगती है (नई श्रृंखला के लागू होते ही 1993–94 की कुल जीडीपी वृद्धि दर और कृषि जीडीपी वृद्धि दर तत्काल लगभग 9 प्रतिशत पर पहुंच गई थी और अगले चार साल के दौरान कृषि जीडीपी वृद्धि दर पुरानी श्रृंखला के मुकाबले 6 प्रतिशत ज्यादा तेजी से बढ़ती रही।[4])

2002–03 के दौरान कृषि क्षेत्र की उपज में भयानक गिरावट

आइए इन आंकड़ों की बजाय कृषि उत्पादन सूचकांकों पर विचार करें। यह सूचकांक उन फसलों पर आधारित होता है जिनके बारे में हमारे पास विश्वसनीय आंकड़े मौजूद हैं। अगर इस पैमाने के हिसाब से देखें तो हालात कहीं ज्यादा चिंताजनक दिखाई देते हैं। इस सूचकांक का अध्ययन करने पर पता चलता है कि 2002–03 के दौरान कृषि उत्पादन में अनुमानित 12.6 प्रतिशत की गिरावट आई। 1947 के बाद केवल दो साल – 1965–66 और 1979–80 – ही ऐसे रहे हैं जब कृषि उत्पादन में इससे भी ज्यादा गिरावट आई थी। 1965–66 में 16.6 प्रतिशत और 1979–80 में 15.5 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई थी।

2001–02 के दौरान अनाज उत्पादन 21.2 करोड़ टन रहा। 2002–03 में यह गिरकर अनुमानित 17.42 करोड़ टन पर आ गया। यह एक साल के भीतर 17.8 प्रतिशत की गिरावट थी, यानी 1965–66 और 1979–80 से भी ज्यादा बड़ी गिरावट। वस्तुतः 2002–03 का प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन तो 1979–80 के स्तर पर पहुंच गया था।

अब 'भारत उदय' के पैरोकार अनुमान लगाकर हमें बता रहे हैं कि 2003–04 के दौरान

अनाज उत्पादन बढ़कर (कारोबारी अखबारों के मुताबिक "रॉकेट की तरह" उड़कर) 21.2 करोड़ टन पर पहुंच गया है। अगर ये दावा सही साबित हो जाए तो भी यह आंकड़ा सिर्फ 2001–02 के उत्पादन की ही बराबरी कर पाएगा। और इसलिए प्रति व्यक्ति उत्पादन के लिहाज से यह 2001–02 के मुकाबले कम ही रहेगा। इस बात की काफी संभावना है कि गेहूं की उपज से संबंधित आंकड़ों को जान–बूझकर बढ़ा–चढ़ा कर पेश किया जा रहा है। निजी औद्योगिक क्षेत्र के अनुमानों के अनुसार गेहूं का असली उत्पादन अधिकृत अनुमानों के मुकाबले 40 से 50 लाख टन तक कम रह सकता है।[5] यदि निजी क्षेत्र के अनुमान सही साबित हुए तो 2003–04 का गेहूं उत्पादन 20.7–20.8 करोड़ टन के आसपास रह जाएगा जो कि 2001–02 के मुकाबले तो 40 लाख टन कम है ही, 1999–2000 के उत्पादन से भी कम है।

जहां तक गैर–खाद्यान्न फसलों का सवाल है, कृषि मंत्रालय का अनुमान है कि इस साल तिलहन उत्पादन अब तक के शिखर बिंदु को एक बार फिर छू लेगा। तिलहनों का यह रिकॉर्ड उत्पादन पांच साल पहले दर्ज किया गया था। मंत्रालय के अनुसार कपास का उत्पादन 1996–97 की तुलना में 13 प्रतिशत कम; जूट और मेस्टा का उत्पादन 2001–02 के बराबर और गन्ने का उत्पादन 2001–02 के मुकाबले 15 प्रतिशत कम रहेगा।

उत्पादन में ठहराव और प्रति व्यक्ति उत्पादन में तेज गिरावट – देश के कृषि उत्पादन की असली तस्वीर यही है। कृषि क्षेत्र के प्रदर्शन और उसके कारणों पर बाद में हम एक बार फिर लौटेंगे।

निस्तेज औद्योगिक विकास

आइए अब जरा उद्योग जगत के हालात का जायजा भी ले लें। औद्योगिक उत्पादन में जो थोड़ा–बहुत सुधार दिखाई दे रहा है वह कमोबेश इसी उम्मीद पर आश्रित दिखाई देता है कि ग्रामीण क्षेत्र की मांग में सुधार होने लगे। और कृषि क्षेत्र में सुधार की संभावना सिर्फ एक अच्छे मानसून की उम्मीदों पर आश्रित रही है। भावी "महाशक्ति" भारत की आर्थिक "उड़ान" का कुल निचोड़ यही है।

ऐतिहासिक मानकों के पैमाने से देखें तो औद्योगिक उत्पादन में सुधार बहुत मामूली रहा है। सीएसओ ने हिसाब लगाकर बताया है कि 2003–04 की समग्र औद्योगिक विकास दर 6.6 प्रतिशत के आसपास रहेगी। 2002–03, यानी सूखे वाले साल की वृद्धि दर (5.8 प्रतिशत) के मुकाबले यह कुछ ही अधिक है। इतना ही नहीं, अस्सी और नब्बे के दशकों में दर्ज की गई अब तक की सर्वोच्च वृद्धि दरों के मुकाबले भी यह बहुत मामूली है। इन आंकड़ों को देखकर कम से कम इतना तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यह बूम या उछाल वाली स्थिति नहीं है।[6] बल्कि तीव्र औद्योगिक विकास का दावा तो विनिर्माण गतिविधियों के एक महत्वपूर्ण संकेतक की कसौटी पर ही धराशायी हो जाता है। विनिर्माण गतिविधियों में डीजल, भट्ठी में इस्तेमाल होने वाले तेल और

यानी पहले साल के मुकाबले एक जोड़ी कम जूते ही बना पाया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि तीसरे साल की 10 प्रतिशत वृद्धि दूसरे साल के उत्पादन के संकुचित आधार पर आंकी जा रही है।

इसी तरह, जब सीएसओ ऐलान करता है कि 2003–04 में कृषि जीडीपी की वृद्धि दर 9.1 प्रतिशत रहेगी तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि 2002–03 में इस वृद्धि दर में 5.2 प्रतिशत की गिरावट आ चुकी थी। इसका आशय यह है कि 2003–04 का कृषि जीडीपी पिछले दो सालों के मुकाबले केवल 3.4 ऊपर है। इसका मतलब है कि 2001–02 से 2003–04 के बीच औसत कृषि जीडीपी वृद्धि दर केवल 1.7 प्रतिशत रही है।

कृषि जीडीपी की गणना का तरीका भी हाल के सालों में संदेहास्पद रहा है। इस बीच 1993–94 से एक नई आधिकारिक श्रृंखला भी लागू की गई है। इस नई व्यवस्था का नतीजा यह हुआ है कि जिन फसलों की उपज के बारे में सरकार के पास पर्याप्त विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध नहीं होते हैं, अब उन फसलों की उपज के अनुमानित स्तर को पुरानी श्रृंखला के मुकाबले काफी बढ़ा–चढ़ाकर दर्ज किया जा सकता है। इसका नतीजा यह होता है कि कृषि जीडीपी वृद्धि दर वास्तविक वृद्धि दर से कहीं ज्यादा ऊंची दिखाई देने लगती है (नई श्रृंखला के लागू होते ही 1993–94 की कुल जीडीपी वृद्धि दर और कृषि जीडीपी वृद्धि दर तत्काल लगभग 9 प्रतिशत पर पहुंच गई थी और अगले चार साल के दौरान कृषि जीडीपी वृद्धि दर पुरानी श्रृंखला के मुकाबले 6 प्रतिशत ज्यादा तेजी से बढ़ती रही।[4])

2002–03 के दौरान कृषि क्षेत्र की उपज में भयानक गिरावट

आइए इन आंकड़ों की बजाय कृषि उत्पादन सूचकांकों पर विचार करें। यह सूचकांक उन फसलों पर आधारित होता है जिनके बारे में हमारे पास विश्वसनीय आंकड़े मौजूद हैं। अगर इस पैमाने के हिसाब से देखें तो हालात कहीं ज्यादा चिंताजनक दिखाई देते हैं। इस सूचकांक का अध्ययन करने पर पता चलता है कि 2002–03 के दौरान कृषि उत्पादन में अनुमानित 12.6 प्रतिशत की गिरावट आई। 1947 के बाद केवल दो साल – 1965–66 और 1979–80 – ही ऐसे रहे हैं जब कृषि उत्पादन में इससे भी ज्यादा गिरावट आई थी। 1965–66 में 16.6 प्रतिशत और 1979–80 में 15.5 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई थी।

2001–02 के दौरान अनाज उत्पादन 21.2 करोड़ टन रहा। 2002–03 में यह गिरकर अनुमानित 17.42 करोड़ टन पर आ गया। यह एक साल के भीतर 17.8 प्रतिशत की गिरावट थी, यानी 1965–66 और 1979–80 से भी ज्यादा बड़ी गिरावट। वस्तुतः 2002–03 का प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन तो 1979–80 के स्तर पर पहुंच गया था।

अब 'भारत उदय' के पैरोकार अनुमान लगाकर हमें बता रहे हैं कि 2003–04 के दौरान

अनाज उत्पादन बढ़कर (कारोबारी अखबारों के मुताबिक "रॉकेट की तरह" उड़कर) 21.2 करोड़ टन पर पहुंच गया है। अगर ये दावा सही साबित हो जाए तो भी यह आंकड़ा सिर्फ 2001–02 के उत्पादन की ही बराबरी कर पाएगा। और इसलिए प्रति व्यक्ति उत्पादन के लिहाज से यह 2001–02 के मुकाबले कम ही रहेगा। इस बात की काफी संभावना है कि गेहूं की उपज से संबंधित आंकड़ों को जान–बूझकर बढ़ा–चढ़ा कर पेश किया जा रहा है। निजी औद्योगिक क्षेत्र के अनुमानों के अनुसार गेहूं का असली उत्पादन अधिकृत अनुमानों के मुकाबले 40 से 50 लाख टन तक कम रह सकता है।[5] यदि निजी क्षेत्र के अनुमान सही साबित हुए तो 2003–04 का गेहूं उत्पादन 20.7–20.8 करोड़ टन के आसपास रह जाएगा जो कि 2001–02 के मुकाबले तो 40 लाख टन कम है ही, 1999–2000 के उत्पादन से भी कम है।

जहां तक गैर–खाद्यान्न फसलों का सवाल है, कृषि मंत्रालय का अनुमान है कि इस साल तिलहन उत्पादन अब तक के शिखर बिंदु को एक बार फिर छू लेगा। तिलहनों का यह रिकॉर्ड उत्पादन पांच साल पहले दर्ज किया गया था। मंत्रालय के अनुसार कपास का उत्पादन 1996–97 की तुलना में 13 प्रतिशत कम; जूट और मेस्टा का उत्पादन 2001–02 के बराबर और गन्ने का उत्पादन 2001–02 के मुकाबले 15 प्रतिशत कम रहेगा।

उत्पादन में ठहराव और प्रति व्यक्ति उत्पादन में तेज गिरावट – देश के कृषि उत्पादन की असली तस्वीर यही है। कृषि क्षेत्र के प्रदर्शन और उसके कारणों पर बाद में हम एक बार फिर लौटेंगे।

निस्तेज औद्योगिक विकास

आइए अब जरा उद्योग जगत के हालात का जायजा भी ले लें। औद्योगिक उत्पादन में जो थोड़ा–बहुत सुधार दिखाई दे रहा है वह कमोबेश इसी उम्मीद पर आश्रित दिखाई देता है कि ग्रामीण क्षेत्र की मांग में सुधार होने लगे। और कृषि क्षेत्र में सुधार की संभावना सिर्फ एक अच्छे मानसून की उम्मीदों पर आश्रित रही है। भावी "महाशक्ति" भारत की आर्थिक "उड़ान" का कुल निचोड़ यही है।

ऐतिहासिक मानकों के पैमाने से देखें तो औद्योगिक उत्पादन में सुधार बहुत मामूली रहा है। सीएसओ ने हिसाब लगाकर बताया है कि 2003–04 की समग्र औद्योगिक विकास दर 6.6 प्रतिशत के आसपास रहेगी। 2002–03, यानी सूखे वाले साल की वृद्धि दर (5.8 प्रतिशत) के मुकाबले यह कुछ ही अधिक है। इतना ही नहीं, अस्सी और नब्बे के दशकों में दर्ज की गई अब तक की सर्वोच्च वृद्धि दरों के मुकाबले भी यह बहुत मामूली है। इन आंकड़ों को देखकर कम से कम इतना तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यह बूम या उछाल वाली स्थिति नहीं है।[6] बल्कि तीव्र औद्योगिक विकास का दावा तो विनिर्माण गतिविधियों के एक महत्वपूर्ण संकेतक की कसौटी पर ही धराशायी हो जाता है। विनिर्माण गतिविधियों में डीजल, भट्ठी में इस्तेमाल होने वाले तेल और

ल्यूब्रिकेंट्स का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है मगर 2003 के अप्रैल से दिसंबर तक अवधि में इन सबकी खपत में गिरावट ही आई (क्रमशः 0.8, 3.7 और 3.7 प्रतिशत की गिरावट)। जनवरी 2004 में जाकर इनकी खपत में मामूली सा इजाफा दर्ज किया गया है। सवाल यह उठता है कि ईंधन के बिना उत्पादन में इजाफा कैसे हो गया?

आइए अब आगे–पीछे के कुछ और वर्षों को जोड़कर इस पर नजर डालते हैं। तथाकथित 'सुधारों' की अवधि के दौरान औद्योगिक वृद्धि दर अस्सी के दशक के मुकाबले उल्लेखनीय रूप से कम रही।[7] यदि 1993–96 की एक संक्षिप्त सी अवधि को छोड़ दिया जाए, जब विलासिता की उपभोक्ता वस्तुओं की लंबे समय से दबी आ रही मांग से अर्थव्यवस्था में एक हल्का सा उछाल आया था, तो कुल मिलाकर यही दिखाई देता है कि हमारा औद्योगिक क्षेत्र इस दरमियान मंदी का शिकार रहा है।

टिप्पणियां :

4. दि मार्केट दैट फेल्ड, सी. पी. चंद्रशेखर एवं जयति घोष, पृष्ठ 43.

5. कॉनॉमिक टाइम्स 19/2/04.

6. 1984–85 से 1990–91 के बीच सालाना औद्योगिक वृद्धि दर 8.5 प्रतिशत औसत रही। इस अवधि में 1987–88 का भीषण सूखा भी शामिल है जब वृद्धि दर गिरकर 7.3 प्रतिशत रह गई थी। 1994–95 और 1995–96, इन दो सालों की वृद्धि दर क्रमशः 9.1 और 13 प्रतिशत थी।

7. 1981–82 से 1990–91 के दौरान औद्योगिक वृद्धि दर 7.6 प्रतिशत वार्षिक थी जो 1992–93 से 2001–02 की अवधि में गिरकर औसत 6.2 प्रतिशत वार्षिक रह गई (आरबीआई, रिपोर्ट ऑन करेंसी एंड फायनेंस 2001–02)। अगर थोड़ा सा भिन्न अवधियों को लिया जाए तो 1980–81 से 1989–90 की अवधि में औद्योगिक वृद्धि दर 7.4 प्रतिशत थी जो 1993–94 से 2002–03 के दौरान घटकर 6.5 प्रतिशत सालाना रह गई (आरबीआई, एन्युअल रिपोर्ट 2002–03)।

2.

औद्योगिक विकास के निराशाजनक छः साल

हालांकि कारोबारी पत्र–पत्रिकाओं ने सिर्फ एक या दो तिमाहियों के मुनाफे के आधार पर बूम या उछाल कर ऐलान कर दिया है मगर उद्योग जगत की असली तस्वीर औद्योगिक निवेश से संबंधित आंकड़ों के जरिए ज्यादा अच्छी तरह समझी जा सकती है। इस विषय में औद्योगिक निवेश के क्षेत्र में आई मंदी को भारतीय रिजर्व बैंक के सर्वेक्षण में बड़ी अच्छी तरह पकड़ा गया है (देखें टेबल 1)। पूंजीगत व्यय यानी संयंत्र एवं मशीनरी जैसे स्थायी साधनों पर होने वाला व्यय 2002–03 में 1996–97 के व्यय स्तर के केवल आधे पर सिमट कर रह गया। उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) का निष्कर्ष है कि 2003–04 में इस मद में होने वाला निवेश और भी नीचे चला जाएगा।[8]

औद्योगिक निवेश की यह तस्वीर समूची अर्थव्यवस्था में निवेश के रुझानों से निर्धारित हो रही है। संयंत्रों और मशीनरी जैसी स्थायी परिसंपत्तियों पर होने वाला निवेश[9] पचास के दशक में जीडीपी का 10.6 प्रतिशत था जो अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध तक आते–आते 21.9 प्रतिशत पर पहुंच गया। इसका मतलब है कि इन चार दशकों (1950–90) के दौरान स्थायी परिसंपत्तियों के निर्माण में जीडीपी का दिनोंदिन बढ़ता अंश खर्च हो रहा था। मगर 1991 के बाद पहले तो इस निवेश की दर में गिरावट आई और उसके बाद 1995–96 में एक बार फिर बढ़कर यह 24.4 प्रतिशत तक पहुंच गया। यही वह अवधि थी जब संपन्न मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग की निरंतर बढ़ती मांग की उम्मीद में विशाल औद्योगिक परियोजनाएं शुरू की गइ थीं। जब कुछ ही समय बाद यह मांग शिथिल पड़ने लगी तो स्थायी परिसंपत्तियों में निवेश का रुझान उसी तरह रातोंरात धराशायी हो गया जैसे वह अचानक ऊपर उठा था। *तब से अब तक स्थायी परिसंपत्तियों में निवेश का रुझान ढीला ही रहा है और अब तो दशक के शुरुआती साल की निवेश दर से भी नीचे पहुंच गया है (देखें चार्ट 1)*। पिछले पांच दशक में पहली बार ऐसा हुआ है जब लगातार छः साल तक

टेबल 1:
सावधि ऋण संस्थानों / व्यावसायिक बैंकों से प्राप्त आर्थिक सहायता के आधार पर स्वीकृत परियोजनाओं में पूंजीगत व्यय

	करोड़ रुपए	बदलाव / प्रतिशत	1993–94 के रुपए में
1992.93	26,777	34.7	28,373
1993.94	33,362	24.6	33,362
1994.95	41,948	25.7	38,894
1995.96	64,319	53.3	54,620
1996.97	70,691	9.9	56,554
1998.99	70,724	0.0	54,539
1999.00	67,131	–5.1	49,666
2000.01	53,491	–21.4	37,786
2001.02	40,887	–23.6	26,685
2002.03	37,154	–9.1	
2003.04 पहले के सालों में स्वीकृत परियोजनाओं पर)	19,518		

–आरबीआई बुलेटिन, दिसंबर 2003; निश्चित पूंजी निर्माण के लिए डिफ्लेटर का प्रयोग करते हुए कॉलम 4 की गणनाएं हमने स्वयं की हैं।

स्थायी निवेश में गिरावट का रुझान बना रहा है (इस अवधि की तुलना केवल 1966–67 से 1970–71 के बीच की अवधि से ही की जा सकती है)।

नब्बे के दशक के शुरुआती कुछ सालों में उद्योग जगत मंदी के हालात की ओर बढ़ रहा था और दशक के उत्तरार्द्ध में दोबारा उसी दिशा में बढ़ने लगा – यह इस बात का संकेत है कि उद्योगों के पास उपलब्ध बहुत सारी उत्पादन क्षमता का कोई उपयोग नहीं हो पा रहा था। हमारे देश में उद्योगों के क्षमता सदुपयोग की दर का हिसाब लगाना हमेशा मुश्किल काम रहता है क्योंकि संबंधित उद्योग के पास कितनी स्थापित क्षमता है, इस बारे में पर्याप्त सूचनाएं आसानी से उपलब्ध नहीं हो पातीं। मगर आरबीआई की करेंसी एंड फायनेंस रिपोर्ट 2000–01 में 1970–71 के बाद भारतीय उद्योगों के क्षमता सदुपयोग को मापने के लिए दो अलग–अलग पद्धतियां आजमाई गई हैं। दोनों तरीकों से मिले नतीजों में कुछ फर्क तो है मगर उनमें एक बात समान है – *अध्ययन के लिए चुने गए तीनों दशकों के दौरान क्षमता सदुपयोग की दर दशक के अंत में सबसे कम रही है।*

पूंजी का गैर–किफायती इस्तेमाल

सरकारी प्रोपेगंडा के मुताबिक इन 13 साल के 'उदारीकरण' कार्यक्रम से पूंजीवाद की एक रचनाशील, प्रतिस्पर्धी भावना का जन्म होना चाहिए था। अपेक्षा की जा रही थी कि विभिन्न

आर्थिक गतिविधियों पर सरकारी नियंत्रण की व्यवस्था के भंग होने और अर्थव्यवस्था से राज्य तंत्र के पीछे हट जाने पर निजी क्षेत्र को सर्वाधिक किफायती और कुशल विकल्पों का चुनाव करने की स्वतंत्रता मिल जाएगी जिससे अन्य देशों के उद्योगों के बरक्स हमारे उद्योगों की प्रतिस्पर्धी क्षमता में भी भारी इजाफा हो जाएगा। अपेक्षा यह भी की जा रही थी कि इस बेहतर कार्यकुशलता से उत्पादन में इजाफा होगा जिसका आशय इस बात से है कि उत्पादन के किसी विशेष कारक (यहां, श्रम अथवा पूंजी) से उत्पादन में किस हद तक सुधार आता है।

मगर आरबीआई की करेंसी एंड फायनेंस रिपोर्ट 2002–03 के मुताबिक, कुल कारक उत्पादकता वृद्धि (जिसका आशय श्रम एवं पूंजी, दोनों की कुल उत्पादकता से है) नब्बे के दशक में तेजी से नीचे आई है। इस रिपोर्ट में श्रम और पूंजी, दोनों कारकों के लिए उत्पादकता की अलग–अलग गणना की गई है। नब्बे के दशक में श्रम उत्पादकता – यानी एक इकाई श्रम से उत्पादन में इजाफा – की वृद्धि दर ज्यादा रही है। मगर पूंजी उत्पादकता – यानी जिस दर पर एक इकाई पूंजी से उत्पादन में वृद्धि होती है – इसी अवधि में घट गई। स्थिर पूंजी की वृद्धि दर मूल्य संवर्धन की वृद्धि दर से आगे निकल गई। इसका मतलब है कि एक तरफ तो मूल्य संवर्धन के लिए प्रत्येक श्रमिक पर और ज्यादा दबाव डाला गया; और दूसरी तरफ नए पूंजीगत निवेश से होने वाले मूल्य संवर्धन में लगातार गिरावट आती गई। बेवकूफी में चार चांद लगाना इसे ही कहते हैं। जिस देश में श्रम बहुतायत में है और पूंजी की हमेशा किल्लत रहती है वहां यह एक आर्थिक बेवकूफी वाली ही बात कही जाएगी। कहने का मतलब यह है कि हम इफरात में मौजूद श्रमशक्ति का तो संभल–संभल कर इस्तेमाल कर रहे हैं और दुर्लभ पूंजी संसाधनों की जमकर फिजूलखर्ची कर रहे हैं।

वस्तुतः यह इस बात का एक महत्वपूर्ण कारण है कि क्यों 'उत्पादकता' की इस माप के भी अपने खतरे होते हैं। यह माप इस बात को नजरअंदाज कर देती है कि उत्पादन के कारक का पूरी तरह सदुपयोग किया जा रहा है या नहीं और केवल इस्तेमाल हो रहे कारकों की उत्पादकता पर ध्यान देती है। (इसका मतलब है कि जिस श्रम का इस्तेमाल नहीं हो पा रहा है उसकी अनुत्पादकता इन गणनाओं में शामिल नहीं है)। परंतु इस खामी के बावजूद, उपरोक्त उदाहरण में उत्पादकता की माप – यह वही माप है जिसको अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान सबसे ज्यादा पसंद करते हैं – इस बात की ओर

टेबल 2:
उत्पादकता में वृद्धि की माप

	1980--90	1991–2000
कुल कारक उत्पादक वृद्धि	3.9	2.1
श्रम उत्पादकता वृद्धि	6.5	7.8
पूंजी उत्पादकता वृद्धि	1.3	–0.7

–आरबीआई, रिपोर्ट ऑन करेंसी एंड फायनेंस, 2002–03.

संकेत करती है कि बहुत सारी औद्योगिक क्षमता का उपयोग नहीं किया जा रहा है और श्रम का अधिकाधिक सघन दोहन हो रहा है।

टिप्पणियां :

8. हालांकि 2003–04 के विषय में सभी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, मगर इससे पहले के सालों में स्वीकृत परियोजनाओं पर हुए व्यय से संबंधित आंकड़े हमारे पास मौजूद हैं (टेबल 1 की अंतिम पंक्ति)। शेष व्यय स्वतः ही 2003–04 में स्वीकृत परियोजनाओं पर होने वाला व्यय बन जाता है। आरबीआई के सर्वेक्षण में टिप्पणी की गई है कि "यदि 2003–04 के संचयी पूंजी व्यय से 2002–03 के मुकाबले बेहतर वृद्धि दर हासिल करनी है तो 2003–04 में स्वीकृति पाने वाली संभावित परियोजनाओं पर व्यय 17,636 करोड़ रुपए से ज्यादा होना चाहिए...। 2003–04 में नई परियोजना स्वीकृत सहायता पर इतना भारी निवेश करना असंभव दिखाई देता है। इसका मतलब है कि 2002–03 के मुकाबले वर्ष 2003–04 में औद्योगिक निवेश गिर भी सकता है।" (आरबीआई बुलेटिन, दिसंबर 2003)।

9. सकल स्थिर पूंजी निर्माण।

3.

औद्योगिक मुनाफे का स्रोत क्या है?

कारोबारी पत्र–पत्रिकाएं हमें इस बात का यकीन दिलाना चाहती हैं कि अगर उद्योगों के मुनाफे में वृद्धि होती है तो यह इस बात का तयशुदा संकेत है कि आर्थिक गतिविधियों में इजाफा हो रहा है। मगर अफसोस, यह सच नहीं है। उद्योग जगत के मुनाफे में वृद्धि अनिवार्य रूप से इस बात का सूचक नहीं होती कि आर्थिक गतिविधियों में भी इजाफा हुआ है। लेकिन विडंबना यह है कि कई बार ये पत्र–पत्रिकाएं भी अनचाहे और अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, इस असलियत को नजरअंदाज नहीं कर पातीं। 1000 शीर्षस्थ भारतीय कंपनियों के वार्षिक अध्ययन (बीएस 1000 : इंडियाज़ कॉर्पोरेट जाइंट्स, जनवरी 2004) में बिजनेस स्टैंडर्ड ने औद्योगिक मुनाफों पर अपने लेख का शीर्षक दिया था – "एक रहस्य का पर्दाफ़ाश : मुनाफे में वृद्धि बिक्री में वृद्धि से ज्यादा तेज रही। क्यों?"

पिछले कई साल से उद्योग जगत निवेश की जिम्मेदारी लेने से कतरा रहा है मगर अपने पैसे से बॉन्ड्स, शेयर्स, एवं म्यूचुअल फंड यूनिट्स जारी करने और सरकार को कर्जे देने में उसे कोई एतराज नहीं है। इन स्रोतों से उद्योग जगत को होने वाली आय (जिसे "अन्य आय" कहा जाता है ताकि उसे बिक्री से होने वाली आय से अलग करके देखा जा सके) उसके मुनाफों का एक बड़ा हिस्सा रही है। आरबीआई के एक अध्ययन[10] के मुताबिक 2002–03 में जिन 1.267 पब्लिक लिमिटेड कंपनियों का सर्वेक्षण किया गया, उनकी "अन्य आय" कर चुकाने के पूर्व उनके मुनाफे का 35.5 प्रतिशत थी।[11] मार्च 2003 के अंत में केवल 24 शीर्षस्थ कंपनियों के पास नकद और अत्यंत तरल परिसंपत्तियों के रूप में कम से कम 46,424 करोड़ रुपए उपलब्ध थे जबकि 2001–02 के आखिर में यह राशि मात्र 34,629 करोड़ रुपए थी।[12] यह इस बात का संकेत है कि ये कंपनियां अपने पैसे को उत्पादक गतिविधियों में लगाने की बजाय ब्याज आधारित कर्जे देने के लिए या सट्टेबाजी के लिए ज्यादा इस्तेमाल कर रही थीं।

यही रुझान 2003–04 में भी बने रहे हैं। बिजनेस स्टैंडर्ड का कहना है कि शीर्षस्थ 478 कंपनियों के अध्ययन से "पता चलता है कि 2003–04 की दूसरी तिमाही के दौरान ब्याज लागतों में 18.2 प्रतिशत की गिरावट आई है...। नतीजा यह हुआ है कि कंपनियों को पहले से ज्यादा मुनाफा मिला है...। ब्याज लागतों के अलावा 'अन्य आय' में 21.38 प्रतिशत की वृद्धि" भी इस असंतुलन (यानी बिक्री के मुकाबले मुनाफे में ज्यादा तेज इजाफा) के लिए जिम्मेदार थी...। पिछले कुछ साल के दौरान उद्योगों ने संयंत्रों एवं मशीनरी के मद में बहुत कम निवेश किया है क्योंकि उद्योगों के पास पहले ही जरूरत से ज्यादा क्षमता की समस्या बनी हुई है...।"[13]

शिथिल मांग के पीछे का सच : बढ़ती गरीबी

उद्योग जगत ने बड़े पैमाने पर निवेश क्यों नहीं किया? इसकी बजाय वह अपनी नकद पूंजी से चिपके रहने और वित्तीय बाजारों में सट्टेबाजी करने पर ही क्यों आमादा रहा? इसका कारण यह था कि उसके पास नई क्षमता की तो बात ही छोड़ दीजिए मौजूदा क्षमता को पूरी तरह इस्तेमाल करने के लिए भी पर्याप्त मांग नहीं थी। ग्रामीण क्षेत्र और आम उपभोक्ताओं के बीच मांग की स्थिति पिछले कुछ सालों के दौरान द्रुत गति उपभोक्ता वस्तुओं (फास्ट मूविंग कन्ज़्यूमर गुड्स – एफएमसीजी) के खराब प्रदर्शन में विशेष रूप से दिखाई देती है। एफएमसीजी क्षेत्र में साबुन, डिटर्जेंट, डिब्बाबंद चाय की पत्ती, बिस्कुट, टूथपेस्ट, दंतमंजन, शैम्पू, स्काउरर्स आदि चीजें आती हैं और इन उत्पादों का एक बड़ा हिस्सा गरीब उपभोक्ता इस्तेमाल करते हैं। अगर प्रति व्यक्ति आय और आय का वितरण यथावत रहे, उसमें कोई बदलाव न आए, तो भी यह एक तर्कसंगत अपेक्षा है कि एफएमसीजी वस्तुओं की बिक्री में इजाफा होना चाहिए क्योंकि आबादी बढ़ती जा रही है।

परंतु एफएमसीजी उद्योगों के अनुमानों से पता चलता है कि उनकी बिक्री असल में गिर रही है। पिछले चार साल के दौरान यह रुझान और तेज हुआ है (देखें टेबल 3)। एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि यह स्थिति सितंबर 2003 में भी कायम थी। साबुन, डिटर्जेंट, चाय और टूथपेस्ट सहित शीर्षस्थ 20 श्रेणियों में से 15 श्रेणी के उत्पादों की बिक्री गिरती जा रही थी। फरवरी 2004 में उद्योग जगत के सूत्रों को यह कहते हुए उद्धृत किया गया कि उन्हें 2004 के मध्य से पहले हालात में सुधार की उम्मीद नहीं है।[14]

पिछले तीन साल में एफएमसीजी क्षेत्र में आए दो रुझानों पर ध्यान देना ठीक रहेगा। पहला रुझान यह रहा कि तुलनात्मक रूप से ज्यादा गरीब उपभोक्ता अब मजबूरन साबुन एवं डिटर्जेंट जैसी बुनियादी जरूरत की चीजों के इस्तेमाल में भी पहले से ज्यादा एहतियात बरतने लगे हैं। उनके द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली इन चीजों की मात्रा में इन तीन सालों में गिरावट आई है। एफएमसीजी क्षेत्र के विशाल उद्योगों की

टेबल 3:
द्रुत गति उपभोक्ता वस्तुओं (FMCG) के विक्रय की वृद्धि दर

वस्तु	2000	2001	2002	2003
साबुन	6.1	9.9	–6.1	–1.6
डिटर्जेंट	5.7	2.9	–2.1	–4.6
टूथपेस्ट	10	2	–5.5	–12
डिब्बाबंद चाय	0.3	2.4	–10	–14.1
शैम्पू	12.5	10.7	7.8	–5

–दि हिंदू सर्वे ऑफ इंडियन इंडस्ट्री 2004, एफएमसीजी उद्योग द्वारा जारी किए गए अनुमानों पर आधारित। अंतिम कॉलम : 2003 का पूर्वार्द्ध।

बिक्री में आई गिरावट से इस बात की पुष्टि हो जाती है। मिसाल के तौर पर, हिंदुस्तान लीवर लिमिटेड (एचएलएल) की बिक्री 2000 में 11,400 करोड़ रुपए थी जबकि 2002 में एचएलएल की कुल बिक्री महज 9,950 करोड़ रुपए रह गई। 2003 में भी एचएलएल की बिक्री में महज 1.8 प्रतिशत का इजाफा हुआ जिससे उसकी बिक्री 10,000 करोड़ के अंक से जरा सा आगे निकल गई। मगर 2003 की आखिरी तिमाही में अच्छे मानसून के बावजूद एचएलएल की बिक्री में गिरावट ही दर्ज की गई। कंपनी का अनुमान है कि उसकी 45 प्रतिशत बिक्री ग्रामीण इलाकों में होती है मगर इसके बावजूद 2003 की आखिरी तिमाही के दौरान ग्रामीण बाजारों में भी उसके उत्पादों की मांग में कोई "काबिलेगौर" वृद्धि नहीं हुई। और तो और, कंपनी को अपनी कई कारोबारी शाखाएं बेचनी पड़ीं। और इस चक्कर में उसका खाद्य तेल उपक्रम ("डालडा") भी बिक गया जिसे दो साल पहले कंपनी ने बड़े उत्साहपूर्वक "पावर ब्रांड" के रूप में चुना था और आत्मविश्वास के साथ ऐलान किया था कि अब यह भी कंपनी का एक बड़ा ब्रांड रहेगा।

दूसरा रुझान यह रहा है कि कई मझौले आकार वाली कंपनियों को बड़ी एफएमसीजी कंपनियों की बिक्री में ठहराव/गिरावट के चलते अपने लिए एक नया रास्ता खुलता दिखाई दिया। उनका मानना है कि बहुत सारे उपभोक्ता ऐसे हैं जिन्हें इन चीजों की जरूरत तो है मगर वह इन चीजों की भारी–भरकम कीमत के कारण उनको खरीद नहीं पाते हैं। ज्योति लैब्स (साबुन), केविनकेयर (शैम्पू), एंकर (टूथपेस्ट) जैसी बहुत सारी मझौले आकार की कंपनियां और देश के विभिन्न भागों में स्थित कई डिटर्जेंट कंपनियां इस मौके का फायदा उठाकर बाजार में कूद पड़ी हैं। इसमें कोई शक नहीं कि ये कंपनियां एडवर्टाइज़िंग के मामले में बड़ी कंपनियों का मुकाबला नहीं कर सकतीं (2002 में अकेले एचएलएल का विज्ञापन बजट उसकी घरेलू एफएमसीजी बिक्रियों का 10.4 प्रतिशत यानी 845 करोड़ रुपए था। यह राशि भारत की 128वीं सबसे बड़ी कंपनी बॉम्बे डाइंग की कुल बिक्रियों के बराबर है।) मगर नई कंपनियों ने अपने उत्पादों की कीमत बड़ी कंपनियों के उत्पादों की कीमत के मुकाबले 25 से

30 प्रतिशत कम रखी है। (कई मामलों में तो यह फर्क 50 प्रतिशत तक है – कोलगेट या एचएलएल का 200 ग्राम का टूथपेस्ट 40 रुपए में मिलता है जबकि कल तक घड़ियां बनाने वाली अजंता कंपनी 200 ग्राम के अपने टूथपेस्ट को महज 20 रुपए में बेचती है)। इन रणनीतियों के सहारे ये कंपनियां बाजार में अपनी एक पहचान बनाने में कामयाब रही हैं। इन कंपनियों ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि बहुत सारे उपभोक्ता एकमुश्त बड़े पैमाने पर चीजें नहीं खरीद पाते इसलिए उन्होंने अपने उत्पादों को छोटे–छोटे पैकेटों में बेचने की रणनीति भी अपनाई है।

गिरती बिक्री के बावजूद भारी–भरकम मुनाफे का मोह नहीं छोड़ पाने वाली ज्यादातर बड़ी कंपनियां लंबे समय बाद अपनी कीमतों में संशोधन के लिए तैयार हुई हैं। हालत यह थी कि उनके उत्पादों की कीमतों में इजाफे का रुझान 2001 तक भी यथावत जारी था। एचएलएल का दावा है कि उसका लाभांश साबुनों और डिटर्जेंट्स पर 25 प्रतिशत रहता है जबकि व्यक्तिगत देखभाल के उत्पादों पर 37 प्रतिशत (हालांकि वास्तविक लाभांश इससे ज्यादा भी हो सकता है) रहता है। हालांकि ये कंपनियां अंततः अपनी कीमतों में थोड़ी–बहुत गिरावट और अपने वितरकों के लाभांश में कुछ इजाफे के लिए मजबूर हुई हैं मगर इस बात की पूरी संभावना है कि ये कंपनियां केवल तभी तक इस रास्ते पर चलेंगी जब तक वह नई कंपनियों को बाजार से बाहर नहीं निकाल देंगी। वह पहले भी कई बार ऐसा कर चुकी हैं। अगर इस बार भी ये कंपनियां अपने इरादों में कामयाब रहीं तो मूल्य वृद्धि की परिघटना एक बार फिर खुद को दोहराने लगेगी। उपभोक्ताओं के कुछ खास वर्गों को ध्यान में रखकर कीमतों में संशोधन की इस मुहिम से कुछ अजीबोगरीब हालात भी पैदा हुए हैं : मिसाल के तौर पर, एचएलएल ने सर्फ एक्सेल का अपना 20 ग्राम का सैशे/पाऊच केवल 1.50 रुपए की कीमत पर बाजार में उतारा है। इसका मतलब है कि यदि 20 ग्राम वाले पाऊच खरीदे जाएं तो सर्फ एक्सेल की कीमत आपको 75 रुपए प्रति किलोग्राम पड़ेगी जबकि उसके एक किलोग्राम पैकेट की कीमत 135 रुपए है। प्रॉक्टर एंड गैम्बल कंपनी अपने टाइड डिटर्जेंट को छोटे पाऊचों के मुकाबले बड़े पैकेटों में 80 प्रतिशत ज्यादा कीमत पर बेचती है। यही बात अन्य उत्पादों के बारे में भी सही है। (इससे इन कंपनियों के लाभांश की असली तस्वीर का थोड़ा सा अंदाजा तो लगाया ही जा सकता है।) बताया जाता है कि कई एफएमसीजी उत्पादों की आधी से ज्यादा बिक्री अब सैशे और छोटे पाऊचों (जिन्हें गरीब तबके को आकर्षित करने के लिए बाजार में उतारा जा रहा है) के जरिए ही हो रही है।

सूती और कृत्रिम कपड़ों की बिक्री भी गरीब उपभोक्ताओं की क्रयशक्ति से जुड़ी हुई है। कृत्रिम कपड़ों की वृद्धि दर 2000–01 में 5.8 प्रतिशत थी जो 2001–02 में 4.4 प्रतिशत तथा 2002–03 में केवल 3 प्रतिशत रह गई। सूती कपड़ों का इस्तेमाल करने वालों में ज्यादातर गरीब तबके के लोग होते हैं मगर इस कपड़े के बारे में संबंधित आंकड़े क्रमशः मात्र 2.9, –2.9, तथा –2.7 प्रतिशत ही रहे। जुलाई–नवंबर 2003 में

तो सूती कपड़ों की बिक्री में पिछले साल की इसी अवधि के मुकाबले 5.9 प्रतिशत की गिरावट आ गई थी। भिवंडी और सूरत जैसे बड़े पावरलूम केंद्रों में हजारों पावरलूम और उन पर काम करने वाले लाखों कामगार खाली बैठे हैं। सस्ते कपड़े पहनने वाले उपभोक्ताओं की गरीबी क्रमशः कपड़ा बनाने वाले कामगारों की गरीबी का भी स्रोत साबित हुई है : **चौतरफा बेरोजगारी से बाजार में खरीदारों की कमी पैदा हुई है और बाजार में खरीदारों की कमी से बेरोजगारी बढ़ी है।**

प्रेस रिपोर्टों से पता चलता है कि हाल के महीनों में लग्ज़री इलेक्ट्रिकल एवं इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं के क्षेत्र में उछाल/बूम का माहौल रहा है। और औद्योगिक उत्पादन सूचकांक से ऐसा लगता है कि कन्ज़्यूमर ड्यूरेबल्स के उत्पादन में तेजी से सुधार हो रहा है (नब्बे के दशक के मध्योपरांत कई साल की मंदी के बाद)। अनुमान लगाया जाता है कि 2003–04 में ऑटोमोबाइल उत्पादों की बिक्री दर में 30 प्रतिशत का इजाफा हुआ है। इसके पीछे बैंकों द्वारा उपलब्ध कराए जा रहे सस्ते और आसान ऋणों का काफी हाथ रहा है। इन बैंकों ने इस तरह के छोटे कर्जों को ही अपने व्यवसाय का एक प्रमुख हिस्सा बना लिया है। निस्संदेह, विद्वान अर्थशास्त्री अब हमें जल्दी ही सूचित करेंगे कि इन सारी बातों से साबित हो गया है कि अब लोग नहाने के साबुन और चाय की पत्ती से हटकर वाहनों पर ज्यादा ध्यान देने लगे हैं। मगर हाथ कंगन को आरसी क्या, असलियत सबके सामने है : **बढ़ती गैर–बराबरी ने व्यापक उपभोग वाले उत्पादों की मांग कम कर दी है और विलासितापूर्ण उत्पादों की बिक्री में विकृत इजाफे को जन्म दिया है।**

भारतीय अभिजात्य वर्ग की जीवनशैली और विदेशों के साथ उसके गहरे अनुराग को विदेश यात्रओं के मद में तेजी से बढ़ते भुगतानों के जरिए समझा जा सकता है। कुछ साल पहले तक विदेश यात्र के मद में होने वाला भुगतान आमतौर पर भारत आने वाले सैलानियों से होने वाली आय का एक चौथाई से एक तिहाई हिस्सा रहता था। इसका मतलब है कि 1956–57 से हाल के सालों तक पर्यटन एवं यात्रा क्षेत्र देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करने वाला क्षेत्र रहा है। मगर 1996–97 के बाद विदेश यात्राओं के मद में होने वाले व्यय में तेजी से इजाफा होने लगा। 2002–03 में भारत आने वाले यात्रियों से होने वाली आय 3.03 अरब डॉलर थी जबकि विदेश यात्रा के

टेबल 4:
विदेश यात्रा के मद में होने वाला भुगतान

	1996–97	1999–2000	2002–2003
मिलियन डॉलर में	858	2,139	3,467
करोड़ रुपये में	3,049	9,268	1,6761

–आरबीआई बुलेटिन एंड हैंडबुक ऑफ स्टेटेस्टिक्स ऑन दि इंडियन इकॉनॉमी।

मद में होने वाला भुगतान 3.47 अरब डॉलर (यानी 16,761 करोड़ रुपए) था। यानी पांच दशक में पहली बार भुगतान की मात्रा आय की मात्र से ऊपर चली गई।

टिप्पणियां :

10. परफॉर्मेंस ऑफ प्राइवेट कॉर्पोरेट बिजनेस सेक्टर", आरबीआई बुलेटिन, अक्तूबर 2003.

11. इससे पहले तीन सालों के बारे में आरबीआई द्वारा किए गए निजी उद्योग क्षेत्र के एक अन्य सर्वेक्षण में "अन्य आय" का हिस्सा करों के भुगतान से पहले मुनाफे का लगभग दो – तिहाई पाया गया था। इस सर्वेक्षण में नमूनों का आकार भी काफी बड़ा था (आरबीआई बुलेटिन, अक्तूबर 2003)।

12. बिज़नेस स्टेंडर्ड, 11/8/03

13. बीएस 1000, जनवरी 2004.

14. इकॉनॉमिक टाइम्स, 20/1/04 एवं 5/2/04.

4.

फाइनेंस और उत्पादन का अलगाव

दुनिया भर के साम्राज्यवादी संस्थान आजकल जिस आर्थिक सिद्धांत पर बहुत फिदा हैं उसके मुताबिक अगर वित्तीय बाजारों को भारी सरकारी दखलंदाजी से आजाद कर दिया जाए तो वित्तीय बाजारों में मौजूद पैसा अपने आप आर्थिक गतिविधियों की तरफ जाने लगेगा। ऐसी स्थिति में प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी और यह बात अर्थव्यवस्था के लिए सर्वाधिक लाभदायक साबित होगी। इस सिद्धांत के मुताबिक विभिन्न कर्जदारों से वसूल की जाने वाली ब्याज दरों में फर्क इस बात का संकेत होगा कि किस मामले में कर्जा वापस न लौटने की आशंका कितनी ज्यादा है (जिन कर्जदारों से पैसा लौटने की उम्मीद कम होगी, उनसे ज्यादा ब्याज दर वसूल की जाएगी); और वित्तीय बाजार सही विकल्पों का चुनाव करने में सक्षम हो पाएंगे क्योंकि वह तर्कसंगत ढंग से काम करते हैं और उनके पास सटीक जानकारियां रहती हैं। इस सिद्धांत के तहत अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्र एकीकृत वित्तीय बाजार के जरिए आपस में जुड़े हुए होंगे। वित्तीय बाजारों को सरकारी दिशानिर्देशों से आजाद कर देने का यह सिद्धांत समूची अर्थव्यवस्था को प्रतिस्पर्धी बनाने के लिहाज से आजकल काफी महत्वपूर्ण माना जा रहा है (जो उद्योग प्रतिस्पर्धी नहीं होंगे वह बंद हो जाएंगे। प्रतिस्पर्धी उद्योगों को सस्ती दर पर कर्जे मिलेंगे और वह तेजी से आगे बढ़ेंगे। जिन फसलों के क्षेत्र में भारत वैश्विक प्रतिस्पर्धा का मुकाबला नहीं कर सकता उनके लिए किसानों को सस्ता ऋण नहीं मिल पाएगा और वह ऐसी फसलों की खेती बंद कर देंगे। फलस्वरूप, ऐसी फसलों का उत्पादन बढ़ेगा जिनमें भारतीय किसान अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'तुलनात्मक लाभ' की स्थिति में हैं)।

इनमें से कई दावे झूठे साबित हो चुके हैं। मिसाल के तौर पर, अब यह साबित हो चुका है कि वित्तीय बाजार में मौजूद अलग–अलग सहभागियों के पास एक जैसी सूचनाएं नहीं होतीं; इस तरह के बाजार ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के चक्कर में अकसर

तर्कसंगत ढंग से काम नहीं कर पाते; उनके भीतर संकट के समय बिखर जाने की एक निहित प्रवृत्ति होती है; और इन बाजारों में पैदा होने वाला संकट 'कार्यकुशलता' में सुधार की बजाय अर्थव्यवस्था के उत्पादक क्षेत्र को प्रभावित करता है और उसे अस्त–व्यस्त भी कर सकता है।

भारत में तो वैसे भी कोई एकीकृत और अकेला वित्तीय बाजार नहीं है। यानी हमारे यहां तो सिद्धांत के स्तर पर भी फाइनेंस आर्थिक गतिविधियों के सर्वाधिक 'कुशल' क्षेत्रों की शिनाख्त करने और उन्हें प्रोत्साहन देने की स्थिति में नहीं पहुंच सकता। हमारी अर्थव्यवस्था में एक तरफ तो विशालकाय कंपनियां और संपन्न व्यक्ति हैं जिन्हें बैंकों और वित्तीय संस्थानों की तमाम फाइनेंस सुविधाएं उपलब्ध हैं जबकि देश के उत्पादक क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा – जिसमें कृषि एवं लघु उद्योग शामिल हैं – बैंक कर्जो की सुविधा से महरूम है। यह क्षेत्र बड़े उद्योगों की तरह वित्तीय बाजारों से सीधे पैसा (शेयर, बॉन्ड्स आदि) नहीं उठा सकता। ऐसी अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र और लघु उद्योगों को 'अनौपचारिक वित्तीय क्षेत्र' पर आश्रित रहना पड़ता है। अनौपचारिक क्षेत्र में बहुत सारे ऑपरेटर – चिट फंड्स, महाजन, व्यापारी, जमींदार – होते हैं जो बैंकों के मुकाबले बहुत ऊंची ब्याज दर वसूल करते हैं। अलग–अलग प्रांतों में न केवल इन कर्जों की शर्तें बेहद असमान होती हैं बल्कि कर्जे की ये शर्तें तय करने का हक भी हर जगह केवल कर्ज देने वाले के पास ही रहता है। कई बार ब्याज की दर और अन्य शर्तें इतनी भयानक हो जाती हैं कि उत्पादक गतिविधियों का ही गला घुटने लगता है। हमारे देश में कर्जे पर 60 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर भी कोई असामान्य बात नहीं है। इतना ही नहीं, बहुधा इससे ऊंची ब्याज दर भी वसूल की जाती है। कई जगह हालात ऐसे हैं कि विभिन्न कर्जदाताओं के बीच प्रतिस्पर्धा के बावजूद ब्याज दर में गिरावट का सवाल ही नहीं उठता। कर्ज लेने वाले किसी भी तरह कर्जा हासिल करना चाहते हैं और कर्ज देने वाले बहुत कम (अगर उनकी संख्या एक से ज्यादा होती है तो अकसर उनके बीच सांठ–गांठ रहती है) होते हैं। यूं भी कर्ज लेने वालों के मुकाबले कर्ज देने वालों की स्थिति ज्यादा मजबूत होती है।

इस तरह के कर्जदारों को बैंकों से जो भी थोड़ा–बहुत ऋण मिल पाता है, वह उन्हें सूदखोरों से थोड़ी सी राहत तो दिला ही देता है। ऐसे में वह निजी सूदखोरों को जो ब्याज देते हैं उसकी दर में भी गिरावट आ सकती है। **ऐसे हालात में बैंक फाइनेंस को सरकारी दिशा–निर्देशों से 'मुक्त' कर देने की वकालत औपचारिक एवं अनौपचारिक क्षेत्रों के बीच खड़ी दीवारों को और पुख्ता कर देती है और पूंजीविहीन उत्पादकों को दरिद्रता में ही जीते रहने के लिए अभिशप्त कर देती है।**

सन् 1990 में विश्व बैंक ने इंडिया : फाइनेंशियल सेक्टर रिपोर्ट : कंसॉलिडेशन ऑफ दि फाइनेंशियल सिस्टम शीर्षक से एक गोपनीय रिपोर्ट तैयार की थी जिसकी एम. नरसिम्हम के नेतृत्व में गठित की गई वित्तीय व्यवस्था समिति (जून 1991) की रिपोर्ट में तकरीबन पूरी की पूरी नकल उतार दी गई थी। बैंक और नरसिम्हम समिति की रिपोर्ट में एक

ऐसा रास्ता सुझाया गया जिसमें पूंजीविहीन उत्पादक गतिविधियों, समाज कल्याण संबंधी आवश्यकताओं और पिछड़े क्षेत्रों को फाइनेंस उपलब्ध कराने के बारे में तमाम तरह के सरकारी दिशा–निर्देशों को समाप्त करना आवश्यक है। दोनों रिपोर्टों में सुझाव दिया गया था कि वित्तीय क्षेत्र को सट्टेबाजी और उपभोक्ता ऋण जैसी भारी मुनाफे (और भारी जोखिम) वाली गतिविधियों पर ध्यान केंद्रित करने और खुद को विदेशी पूंजी द्वारा अधिग्रहण हेतु उपलब्ध करा देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

हालांकि इस तरह की नीतियों के नकारात्मक सामाजिक परिणामों की आशंका को देखते हुए सरकार इन सुझावों को पूरी तरह लागू नहीं कर पाई मगर वह निरंतर इसी दिशा में बढ़ती जरूर रही। इस दिशा में बढ़ने का एक परिणाम यह जरूर हुआ कि हर्षद मेहता, केतन पारीख, एम.एस. शूज, सी. आर. भंसाली तथा इसी तरह के कई सितारों की कारगुजारियों से सजे बैंक घोटालों और धांधलियों की बाढ़ सी आ गई। दूसरा परिणाम यह हुआ कि बैंक फाइनेंस का एक बहुत बड़ा हिस्सा कृषि और लघु उद्योग जैसी उत्पादक गतिविधियों से दूर हटता चला गया।

वर्ष 2002–03 में अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों (एससीबी) के चालू मुनाफों में सबसे भारी इजाफा दर्ज किया गया। 2002–03 में बैंकों के सकल मुनाफे में लगभग 50 प्रतिशत का इजाफा दर्ज किया गया जबकि इससे पहले साल 81 प्रतिशत इजाफा दर्ज किया जा चुका था। बैंकों की इस ऐतिहासिक उपलब्धि पर कारोबारी अखबारों ने जमकर फूल बरसाए। सवाल उठता है कि यह उपलब्धि हासिल कैसे की गई? क्या यह इस बात का संकेत है कि उत्पादक अर्थव्यवस्था की सेहत सुधरने लगी थी? जी नहीं। बैंकों ने यह भारी भरकम मुनाफा सरकार को ऋण देकर और इन ऋण अनुबंधों की खरीद–फरोख्त करके कमाया था। **साथ ही उन्होंने ऋणों पर पहले से ज्यादा लाभांश वसूल किया और समाज के मध्यम एवं उच्च वर्ग को घर खरीदने के लिए बड़े–बड़े ऋण देकर उनसे भी भारी कमाई की।**

बैंकों का 'सामान्य' काम व्यक्तियों से कर्जा लेकर व्यवसाय जगत को कर्जा देने का होता है। वह जिस ब्याज दर पर कर्जा लेते हैं और जिस दर पर कर्जा देते हैं, उन दरों के बीच फर्क ही उनकी आय का मुख्य स्रोत माना जाता है। मगर हाल के सालों में बैंकों का चरित्र बदल गया है। विशाल औद्योगिक कंपनियां बैंकों से कर्जा नहीं लेना चाहतीं क्योंकि वह पहले ही अधिशेष क्षमता और अल्प मांग के बोझ तले दबी जा रही थीं (वस्तुतः वह खुद अपने पास मौजूद अधिशेष नकदी को भी उत्पादक गतिविधियों में लगाने को इच्छुक नहीं थीं)। **दूसरी तरफ 1991 के बाद अस्तित्व में आई सरकारी नीति और क्रियाकलापों की दिशा–दशा ने भी बैंकों को इस आशय का संकेत दिया है कि उन्हें कृषि और लघु उद्योगों को कर्जा देने के कठिन, अल्पलाभी धंधे में पड़ने की जरूरत नहीं है क्योंकि इसके लिए बहुत सारे नए**

कर्मचारियों, ग्रामीण इलाकों में नई–नई शाखाओं और रेहन की जरूरत पड़ती है। सरकार के इन इशारों को बैंकों ने अच्छी तरह समझा और उन्होंने अपना पैसा सरकार को कर्जे पर देने का आसान रास्ता अपना लिया। इस काम में उन्हें बिना जोखिम ब्याज मिलता है और ज्यादा कर्मचारियों की जरूरत भी नहीं पड़ती। दूसरे, क्योंकि हाल के सालों में इन सरकारी ऋण उपकरणों की कीमत भी बढ़ी है इसलिए बैंक इन उपकरणों की खरीद–फरोख्त करके भी खूब मुनाफा कमा रहे हैं। यह एक तरह का सट्टेबाजी वाला मुनाफा है जो शेयर बाजार में होने वाली खरीद–फरोख्त से ज्यादा भिन्न नहीं होता।

वर्ष 2002–03 में एडवांस या बिलों, जो कि बैंकों की सबसे मुख्य आय होती है, पर ब्याज/रियायतों का अंश उनकी कुल आय के 40 प्रतिशत से भी नीचे चला गया। यह अनुपात बैंकों के निवेश (मुख्यतः सरकारी ऋण) पर मिले ब्याज से हुई आय के स्तर से जरा सा ही ऊपर था। उस साल बैंकों के निवेश पर ब्याज आय का अंश बैंकों की कुल आय का 36 प्रतिशत थी। आरबीआई इस समस्या को अच्छी तरह समझ रहा है इसलिए उसने स्वीकारेक्ति के स्वर में कहा कि "अब यह सवाल खड़ा हो गया है" कि क्या निवेश ही "बैंकों की आय का मुख्य स्रोत है।"[15]

निवेश पत्रों की बिक्री से हुए मुनाफे में इजाफा बहुत तेज रहा है। 2002–03 में इस तरह की खरीद–फरोख्त से हुआ मुनाफा बैंकों की कुल आय में लगभग 7.7 प्रतिशत और उनके चालू मुनाफे में लगभग 33 प्रतिशत के बराबर था। इसका मतलब है कि **अब बैंकों के क्रियाकलाप बैंकों जैसे नहीं बल्कि निजी सट्टेबाजों जैसे होते जा रहे हैं।**

टेबल 5:
अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों की "अन्य आय" (अर्थात ब्याज से हुई आय के अतिरिक्त आय) तथा चालू मुनाफा (अरब रुपए में)

	2000.01	2001.02	2002.03
अन्य आय	169.85	240.74	316.56
चालू मुनाफा	197.57	298.37	406.82

–आरबीआई, ट्रेंड एंड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इंडिया, 2002–03.

बैंकों के मुनाफे में तेज उछाल का दूसरा कारण यह था कि बैंक अपने द्वारा लिए गए कर्जे पर जो ब्याज चुका रहे थे उसके मुकाबले बैंकों द्वारा दिए गए कर्जों पर ब्याज की दर ज्यादा थी। और यह फासला बढ़ता जा रहा था। **जब सरकार ने ब्याज दरों में कटौती कर दी तो बैंकों ने भी अपने खाता धारकों को दी जा रही ब्याज दर घटा दी मगर उन्होंने कर्जदारों से वसूल की जाने वाली ब्याज दर में वैसी कटौती नहीं की।** खासतौर से जिन कर्जदारों के पास पैसा जुटाने के दूसरे साधन नहीं थे, उनसे वसूल की जाने वाली ब्याज दरों में बैंकों ने ज्यादा कटौती नहीं की। इसका नतीजा यह हुआ

कि ब्याज दरों में फर्क के कारण बैंकों को होने वाली आय 2000–01 के 36,950 करोड़ रुपए से बढ़कर 2001–02 में 39,441 करोड़ रुपए और 2002–03 में 47,111 करोड़ रुपए हो गई। मगर बैंकों ने बड़े कर्जदारों से वसूल की जा रही ब्याज दर में कटौती जरूर कर दी (जैसा कि हमने पीछे देखा है उद्योग जगत के ब्याज व्यय में तेजी से कमी आई है)। इस तरह, प्रभावतः बैंकों ने ब्याज दरों में गिरावट का फायदा उठाकर आय के हस्तांतरण का रास्ता अपनाया और छोटे खाताधारकों और छोटे कर्जदारों से पूंजी लेकर उसे बड़े उद्योगों और खुद अपनी जेब में डाल लिया। **बैंकों के इस आसमान छूते मुनाफे को देखकर विदेशी निवेशकों की भी छाती पर सांप लोटने लगे हैं इसलिए वह आगामी चुनावों के बाद होने वाले निजीकरण के लिए पलकें बिछाए बैठे हैं।**

बैंकों के प्रदर्शन में तीसरा गौरतलब रुझान यह है कि उनके ऋण कार्यक्रम में आमूल बदलाव आए हैं। अब **वह उत्पादक गतिविधियों के लिए ऋण देने की बजाय संपन्न वर्गों के उपभोग हेतु ऋण देने को ज्यादा अहमियत देते हैं।** आवासीय ऋणों के मामले में 2001–02 और 2002–03 के दौरान यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई दी। कहने की जरूरत नहीं कि ये ऋण लेने वाले ज्यादातर मध्यवर्ग और उच्च वर्ग के ही लोग होते हैं। आवासीय ऋणों के मद में 2002–03 की अवधि में दिए गए ऋण लक्ष्य से 294 प्रतिशत अधिक और पिछले साल के मुकाबले दोगुना से भी ज्यादा थे।

टेबल 6:
अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों द्वारा जारी किए गए आवासीय ऋण : ऋण वितरण

	2001–02	2002–03
लक्ष्य (अरब रुपए)	50.46	85.74
पिछले साल के मुकाबले इजाफा (प्रतिशत)	(31.1)	(69.9)
ऋण वितरण (करोड़ रुपए)	144.76	338.41
पिछले साल के मुकाबले इजाफा (प्रतिशत)	(51.9)	(129.5)

— आरबीआई, ट्रेंड एंड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इंडिया, 2002–03.

2001–02 में आवासीय ऋणों के मद में ऋणों का प्रवाह (यानी बकाया ऋण अर्थात वितरण नफी वसूली में वृद्धि) 6,203 करोड़ रुपए था जो 2002–03 में बढ़कर 12,308 करोड़ रुपए पर पहुंच गया। हैरानी की बात यह है कि इस मद में ऋण का प्रवाह अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों द्वारा समूचे कृषि क्षेत्र को दिए गए कुल ऋण से भी ज्यादा था। 2002–03 में इन बैंकों ने कृषि क्षेत्र को केवल 10,848 करोड़ रुपए के ऋण दिए थे। मार्च–अगस्त 2003 में यह भेद और भी गहरा हो गया जब आवासीय क्षेत्र को ऋण प्रवाह कृषि के मुकाबले दोगुना से भी ऊपर चला गया।

रिपोर्टों से पता चलता है कि 2003–04 में आवासीय ऋण भी कार तथा अन्य वस्तुओं की खरीददारी के लिए तेजी से बढ़ते उपभोक्ता ऋणों के साए में दबकर रह गए हैं।

मगर उद्योगों को दिए जा रहे ऋणों में सुधार की शुरुआत जनवरी 2004 तक भी नहीं हो पाई है। **यहां यह बात भी गौर करने वाली है कि आईडीबीआई, आईएफसीआई, आईआरबीआई तथा (अब आईआईबीआई) जैसे विकास बैंक, जिनका काम विभिन्न परियोजनाओं के लिए उद्योगों को ऋण देना ही था, मरणासन्न अवस्था में पहुंच चुके हैं।** आईसीआईसीआई का उसकी ही बैंकिंग शाखा में विलय हो चुका है और अब वह औद्योगिक वित्त उपलब्ध कराने की बजाय उपभोक्ता ऋण मुहैया कराने वाला बैंक बनकर रह गया है।

टेबल 7:
अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों से आवासीस क्षेत्र की ओर ऋणों का प्रवाह

	2001–02	2002–03	मार्च–अगस्त 2003
बकाया ऋण में इजाफा (अरब रुपए)	62.03	123.08	57.55
पिछले साल के मुकाबले इजाफा (प्रतिशत)	38.4	55.1	

– आरबीआई बुलेटिन एंड हैंडबुक ऑफ स्टेटेस्टिक्स ऑन दि इंडियन इकॉनॉमी।

टेबल 8:
अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों से कृषि क्षेत्र को ऋणों का प्रवाह

	2001–02	2002–03	मार्च–अगस्त 2003
बकाया ऋण में इजाफा (अरब रुपए)	88.39	108.48	27.62
पिछले साल के मुकाबले इजाफा (प्रतिशत)	16.5	12.8	

– आरबीआई बुलेटिन एंड हैंडबुक ऑफ स्टेटेस्टिक्स ऑन दि इंडियन इकॉनॉमी।

कर्जे के लिए तरसता कृषि क्षेत्र

नब्बे के दशक में विश्व बैंक के नुस्खों को हर मुमकिन सीमा तक लागू करते हुए सरकार ने बैंकों को इस आशय का स्पष्ट संकेत दिया है कि वह 'प्राथमिकता वाले क्षेत्र', विशेष रूप से कृषि, लघु उद्योग तथा कमजोर तबकों को ऋण देने से संबंधित लक्ष्यों की उपेक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, सरकार ने संबंधित परिभाषाओं में भी बार–बार ढील दी है ताकि कृषि क्षेत्र में इस्तेमाल होने वाली वस्तुओं के वितरकों को मिलने वाले ऋण, ग्रामीण इलाकों में सक्रिय राज्य बिजली बोर्डों को दिए जाने वाले ऋण तथा अन्य 'अप्रत्यक्ष वित्त',[16] को भी कृषि क्षेत्र में दिए जाने वाले ऋणों का हिस्सा माना जा सके। इसका नतीजा यह हुआ है कि जून 1990 से मार्च 2003 के बीच बैंक ऋणों में कृषि क्षेत्र को मिलने वाले ऋणों का प्रतिशत 15.9 प्रतिशत से गिरकर 9.8 प्रतिशत रह गया। इसमें भी कृषि क्षेत्र को मिलने वाला प्रत्यक्ष ऋण तो 13.8 प्रतिशत से गिरकर मार्च 2001 तक आते–आते मात्र 7.2 प्रतिशत ही रह गया था।

टेबल 9:
सकल बैंक ऋण की तुलना में कृषि क्षेत्र को मिलने वाले ऋण (प्रतिशत में)

	प्रत्यक्ष	अप्रत्यक्ष	कुल
जून 1990	13.8	2.1	15.9
मार्च 2003	7.2	2.5	9.7

स्रोत : आरबीआई, बेसिक स्टेटेस्टिकल रिटर्न्स

निवेश योग्य संसाधनों की ग्रामीण क्षेत्रों से निकासी का एक प्रत्यक्ष संकेत बैंकों द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में जारी किए गए ऋणों और इन क्षेत्रों में उन्हें मिलने वाली जमा राशियों के बीच निहित अनुपात रहा है। मार्च 1990 में यह अनुपात 61.2 प्रतिशत था जो मार्च 2002 में 41.8 प्रतिशत पर सिमट गया।

दूसरी तरफ जो कर्जे उपलब्ध हैं उनका भी एक बहुत बड़ा हिस्सा संपन्न तबकों ने हथिया लिया है। **आरबीआई की रिपोर्ट ऑन करेंसी एंड फाइनेंस 2001–02 में कहा गया है कि नब्बे के दशक में छोटे और मझौले किसानों को बैंकों से मिलने वाले प्रत्यक्ष ऋण में गिरावट आई जिसके फलस्वरूप बैंको से जारी होने वाले ऋण में मझौले किसानों का हिस्सा कम हुआ है। इसी रुझान का एक और संकेत यह है कि नब्बे के दशक में 2.5 एकड़ से कम स्वामित्व वाले कर्जदार किसानों के खातों की संख्या में 25 प्रतिशत और 2.5 से 5 एकड़ स्वामित्व वाले किसानों के खातों में 15 प्रतिशत गिरावट आई। इसके विपरीत 5 एकड़ से अधिक स्वामित्व वाले कर्ज आवेदक किसानों के खातों की संख्या यथावत बनी रही।**[17]

पहले ज्यादातर मझौले और दीर्घावधि ऋण बैंकों से ही जारी किए जाते थे (कोऑपरेटिव ज्यादातर अल्पावधि ऋण ही जारी करते थे)। मगर नब्बे के दशक में बैंकों ने भी अल्पावधि ऋणों का रास्ता पकड़ लिया जिससे पता चलता है कि वह कृषि ऋणों के प्रति कितने उदासीन हैं। आरबीआई का कहना है कि "कृषि ऋणों में अल्पावधि ऋणों का बढ़ता हिस्सा थोड़ी चिंता का विषय है क्योंकि इससे कृषि क्षेत्र में निजी पूंजी निर्माण (यानी निवेश) में गिरावट के रुझान को और बल मिल सकता है।"

फाइनेंस का बदलता फोकस अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों के दफ्तरों की भौगोलिक स्थिति में आ रहे बदलावों में भी परिलक्षित हो रहा है। **1991 से 2003 के बीच इन बैंकों की ग्रामीण शाखाओं की संख्या में 2,771 की गिरावट आई है जबकि महानगरीय शाखाओं की संख्या में 3,812 का इजाफा हुआ है।**[18]

लघु उद्योग भी फाइनेंस के लिए तरस रहे हैं

विर्निर्माण प्रक्रिया में 40 प्रतिशत मूल्य संवर्धन करने वाले लघु उद्योग भी ऋण की सुविधा से वंचित हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (2000–01) में ज्यादातर लघु उद्योगपतियों ने पूंजी के अभाव को ही अपनी सबसे बड़ी समस्या बताया है। अब इन उद्योगपतियों को भी मजबूरन भारी–भरकम दरों पर कर्जे लेने पड़ रहे हैं। **उदारीकरण के बाद बैंक ऋणों में लघु उद्योगों का हिस्सा 6.6 प्रतिशत घट चुका है – यह कृषि क्षेत्र के मुक. ाबले और भी ज्यादा बड़ी गिरावट है।**

इस प्रकार, ऋण बाजार में निहित दोहरेपन को देखते हुए – यानी विशाल कंपनियों,

टेबल 10:
सकल बैंक ऋण की तुलना में लघु उद्योगों को जारी किए गए ऋण (प्रतिशत में)

मार्च 1990	11.5
मार्च 2003	4.9

स्रोत : आरबीआई, बेसिक स्टेटेस्टिकल रिटर्न्स

ग्रामीण जमींदारों एवं कृषि व्यापारियों के लिए औपचारिक ऋण जबकि काश्तकारों और छोटी कंपनियों के लिए भारी दरों पर निजी ऋण – ब्याज दरों में बार–बार की जा रही कटौती भी निवेश को प्रोत्साहित नहीं कर पा रही है। जिन क्षेत्रों को उत्पादन बढ़ाने के लिए सस्ता ऋण चाहिए उन्हें एक पैसा नहीं मिलता और जो बाजार की जोड़–तोड़ व सट्टेबाजी के दम पर फल–फूल रहे हैं उनका मुनाफा ब्याज दरों में कटौती के सहारे और बढ़ता जा रहा है।

टिप्पणियां :

15. ट्रेंड एंड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इंडिया 2002–03.
16. कृषि क्षेत्र को अप्रत्यक्ष फाइनेंस' में एक बहुत बड़ा हिस्सा वस्तुतः ग्रामीण अवरचनागत विकास कोष (आरआईडीएफ) का है जो किसानों को नहीं बल्कि केवल राज्य सरकारों को दिया जाता है।
17. आरबीआई, हैंड बुक ऑफ स्टेटेस्टिक्स ऑन दि इंडियन इकॉनॉमी।
18. वही।

5.

बढ़ती क्षेत्रीय असमानता

जब बैंक किसी भी अन्य बृहत्तर आर्थिक उद्देश्य के मुकाबले अपने निजी मुनाफे को ज्यादा तरजीह देने लगते हैं तो बैंक फाइनेंस सबसे लाभदायक गतिविधियों और लाजिमी तौर पर सबसे विकसित क्षेत्रों की ओर ही आकर्षित होने लगता है। इस घटनाक्रम से विभिन्न क्षेत्रों के बीच असमानता और बढ़ जाती है। बैंक पिछड़े इलाकों में लोगों की जमाराशि को अपने पास खींच लेते हैं और उस पैसे को तुलनात्मक रूप से विकसित इलाक़ों में झोंक देते हैं। टेबल 11 में विभिन्न राज्यों में जारी किए गए ऋण और लोगों की जमा राशियों के अनुपात का ब्यौरा दिया गया है। यदि बैंक किसी राज्य में 100 रुपए की जमा राशि प्राप्त करते हैं और उसमें से 55 रुपए कर्ज के रूप में जारी कर देते हैं तो ऋण – (माइनस/नफी) जमा अनुपात 55 प्रतिशत कहलाता है। (अखिल भारतीय अनुपात 100 प्रतिशत से कम ही रहे हैं क्योंकि जमा राशियों का एक निश्चित अनुपात नकदी के रूप में रखा जाता है और बैंक भी सरकारी ऋणों, शेयरों, बॉण्ड्स, डिबेंचर्स तथा ऐसे ही साधनों में बड़े पैमाने पर निवेश करते रहते हैं।)

जैसा कि तथ्यों से पता चलता है यह अनुपात 1991 में पहले ही काफी असमान था मगर महाराष्ट्र के अलावा बाकी सभी राज्यों में तो तब से अब तक इस अनुपात में और गिरावट आई है। मिसाल के तौर पर बिहार में ऋण – जमा अनुपात बहुत तेजी से गिरा है। इस गिरावट का अंदाजा इस एक तथ्य से लगाया जा सकता है कि मार्च 1991 में बैंकों के पास जमा होने वाले प्रत्येक 100 रुपए में से 40 रुपए वह ऋणों के रूप में जारी कर देते थे मगर मार्च 2002 तक आते–आते यह राशि केवल 22 रुपए रह गई (झारखंड के लिए यह राशि 31 रुपए है जिसे बिहार से अलग करके एक नए राज्य का दर्जा दिया गया है)। उत्तर प्रदेश में यह अनुपात 48 से गिरकर 34 और उड़ीसा में 72 से गिरकर 51 रुपए रह गया। केवल महाराष्ट्र में ऐसा हुआ है कि यह अनुपात 68 रुपए से बढ़कर 78 रुपए पर पहुंच गया।

टेबल 11:
चुनिंदा राज्यों में अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों का ऋण – जमा अनुपात (प्रतिशत में)

	मार्च 1991	मार्च 2002
हरियाणा	76.0	55.0
पंजाब	49.7	43.9
राजस्थान	60.5	55.4
असम	69.9	70.3
बिहार	39.5	21.9
झारखंड	(बिहार)	31.0
उड़ीसा	72.3	51.4
पश्चिमी बंगाल	50.7	49.2
छत्तीसगढ़	(मध्य प्रदेश)	54.2
मध्य प्रदेश	66.7	50.3
उत्तर प्रदेश	47.6	34.3
गुजरात	62.7	54.7
महाराष्ट्र	68.4	77.5
आंध्र प्रदेश	81.1	67.7
कर्नाटक	81.1	68.9
केरल	59.6	43.7
तमिलनाडु	97.2	88.5
भारत	61.9	58.4

– आरबीआई, ट्रेंड एंड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इंडिया, 1992–93 एंड 2002–03.

देश भर की कुल बैंक जमा राशियों में पांचवा हिस्सा अकेले महाराष्ट्र का बैठता है (जून 2002) मगर सकल ऋण में उसका हिस्सा उससे भी ज्यादा यानी एक–तिहाई तक जा पहुंचता है। इस राज्य में बैंकों की प्रति व्यक्ति जमा अखिल भारतीय संख्या के मुकाबले दोगुना से अधिक थी। मगर यहां का प्रति व्यक्ति ऋण अखिल भारतीय संख्या के साढ़े तीन गुना से भी ज्यादा थी। यहां इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि अगर महाराष्ट्र के बैंक ऋण जारी करते हैं तो इसका लाजिमी तौर पर यह मतलब नहीं है कि इस ऋण का सारा पैसा अकेले उसी राज्य में खर्च हो रहा है। फिर भी यह बात चिंताजनक तो है ही कि **महाराष्ट्र में उद्योगों को मिलने वाले बैंक ऋण का स्तर बिहार में उद्योगों को मिले वाले बैंक ऋण के मुकाबले लगभग 68 गुना रहा है (देखें टेबल 12)।** हालांकि शिवसेना रोजगार की तलाश में मुंबई का रुख करने वाले दीन–हीन बिहारियों के प्रति नफरत फैलाने में कोई कसर नहीं उठा रही है मगर वह इस तथ्य को दबा लेती है कि वास्तव में पूंजी बिहार से मुंबई की तरफ ही पलायन कर रही है। यह सार्वजनिक क्षेत्र में होने वाले निवेश पर भारी अंकुश लगाने वाली और

आर्थिक विकास की लागत पर बैंकों को मुनाफे के पीछे दौड़ने का निर्देश देने वाली हमारी समग्र आर्थिक नीति का ही नतीजा है कि इस तरह की क्षेत्रीय गैरबराबरी दिन–ब–दिन बढ़ती जा रही है।

टेबल 12:
उद्योगों पर बकाया बैंक ऋण, मार्च 2002, चुनिंदा राज्य (अरब रुपए)

हरियाणा	58.38
पंजाब	72.65
राजस्थान	49.92
असम	43.06
बिहार	11.48
झारखंड	24.61
उड़ीसा	32.39
पश्चिम बंगाल	180.21
छत्तीसगढ़	17.88
मध्य प्रदेश	58.76
उत्तर प्रदेश	105.36
दिल्ली	321.03
गुजरात	207.00
महाराष्ट्र	789.64
आंध्र प्रदेश	159.08
कर्नाटक	168.75
केरल	50.24
तमिलनाडु	296.67

स्रोत : आरबीआई, बेसिक स्टेटेस्टिकल रिटर्न्स

ये क्षेत्रीय असमानताएं देश के सबसे निर्धन इलाकों में और भी भीषण गरीबी को जन्म देती है। मगर उन्हें किसी एक क्षेत्र के मुकाबले दूसरे क्षेत्र के साथ पक्षपात के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। वास्तव में ये असमानताएं विकृत विकास (कृषि क्षेत्र का अवरुद्ध विकास, विर्निर्माण गतिविधियों में धीमी वृद्धि, और तमाम तरह की परजीवी 'सेवा क्षेत्र' गतिविधियों में तेज इजाफा) और वर्गों के बीच बढ़ती गैरबराबरी का संकेतक हैं। क्षेत्रीय असमानताओं की यही व्याख्या तर्कसंगत दिखाई देती है। पहले वाली व्याख्या इस आशय के भ्रम को जन्म देती है कि किसी एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्रों के लोगों के मुकाबले उल्लेखनीय रूप से बेहतर स्थिति में हैं। मगर ऐसा नहीं है।

विदेशी पूंजी से बढ़ती क्षेत्रीय गैरबराबरी : महाराष्ट्र का उदाहरण

महाराष्ट्र क्षेत्रीय असमानता का सबसे बड़ा और सबसे निर्मम उदाहरण है। यहां

की राजधानी मुंबई में देश के सबसे बड़े धनाढ्य रहते हैं जबकि बाकी राज्य, खासतौर से ग्रामीण इलाके अखिल भारतीय औसत से भी ज्यादा गरीब हैं।

बैंक ऋण इस खाई को सबसे अच्छी तरह परिलक्षित कर रहे हैं। (नीचे दिए गए आंकड़े मुख्य रूप से इकॉनॉमिक सर्वे ऑफ महाराष्ट्रा, 2002–03 से लिए गए हैं।) **राज्य भर में इकट्ठा हुई जमा राशि का 77 प्रतिशत और राज्य भर में जारी किए गए ऋणों का 87 प्रतिशत अकेले मुंबई के हिस्से में गया है।** राज्य भर के अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों द्वारा जारी किए गए ऋणों में कृषि एवं संबंधित गतिविधियों का हिस्सा केवल 3.5 प्रतिशत रहा है। **अगर मुंबई को निकाल दिया जाए तो महाराष्ट्र की प्रति व्यक्ति जमा और ऋण का स्तर अखिल भारतीय स्तर के मुकाबले महज आधा रह जाएगा।**

यह क्षेत्रीय गैरबराबरी (अन्य राज्यों और राज्य के अन्य हिस्सों के संबंध में) वस्तुतः विकास के अत्यंत विकृत पैटर्न का ही परिणाम है। अर्थव्यवस्था के उत्पादक क्षेत्रों में नाममात्र को भी वृद्धि नहीं हो रही है।

राज्य का कृषि क्षेत्र तबाही की हालत में है। 1991 के आंकड़ों के मुताबिक राज्य की 61 प्रतिशत श्रमशक्ति कृषि क्षेत्र में थी मगर राज्य के जीडीपी में इस क्षेत्र का हिस्सा मात्र 13 प्रतिशत था (राष्ट्रव्यापी जीडीपी में कृषि का हिस्सा 25 प्रतिशत बैठता है)। राज्य के कृषि क्षेत्र में निवेश का भयानक अभाव बना हुआ है। राज्य का कुल सिंचित क्षेत्रफल 1996–97 में 31 लाख हैक्टेयर था जो 2001–02 में गिर कर 30 लाख हैक्टेयर से भी कम रह गया। इसका नतीजा यह हुआ कि बुवाई के अंतर्गत आने वाले कुल क्षेत्रफल में सिंचित भूमि का हिस्सा 17.3 प्रतिशत से गिरकर मात्र 16.9 प्रतिशत यानी देश भर में सबसे कम स्तर पर पहुंच गया।19 बुवाई के अंतर्गत आने वाले कुल क्षेत्रफल में भी इस दौरान गिरावट आई है। 1990–91 में यह क्षेत्रफल 186 लाख हैक्टेयर था जो 1996–97 में 178 लाख हैक्टेयर और 2002–03 में 176 लाख हैक्टेयर रह गया। और इसमें से केवल एक चौथाई क्षेत्रफल ही ऐसा है जिस पर साल में एक बार से ज्यादा बुवाई हो पाती है।

महाराष्ट्र में स्वयं कृषि क्षेत्र के भीतर भी जबर्दस्त असंतुलन दिखाई देता है। राज्य में सिंचाई के लिए इस्तेमाल होने वाले पानी का 70 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा नकदी फसल – यानी गन्ना – के खेतों में चला जाता है जबकि सिंचित क्षेत्रफल में गन्ने का क्षेत्रफल मात्र 3 प्रतिशत बैठता है। गन्ने के एक हैक्टेयर खेत की सिंचाई करने के लिए जितने पानी का इस्तेमाल होता है उतने पानी से महाराष्ट्र में पैदा होने वाले 10 हैक्टेयर मोटे अनाजों की सिंचाई की जा सकती है। मगर महाराष्ट्र के किसानों में असली ताकत बाजरा पैदा करने वाले काश्तकारों के पास नहीं बल्कि चीनी लॉबी के पास है।

आश्चर्य की बात नहीं कि 2002–03 में महाराष्ट्र का कृषि जीडीपी 1996–97 के मुक. ाबले 13.3 प्रतिशत नीचे चला गया। 2001–02 में अनाजों का उत्पादन 1996–97 के

मुकाबले एक चौथाई कम रहा और वह 1979–82 की अवधि की औसत पैदावार के स्तर तक जा पहुंचा। 2002–03 सूखे का साल था और इस साल अनाज उत्पादन में और भी भारी गिरावट आ गई। 2001–02 के मुकाबले इस साल 19 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई। आप देख सकते हैं कि राज्य की 60 प्रतिशत श्रमशक्ति को रोजगार देने वाले क्षेत्र की क्या हालत है।

मगर प्रत्येक 6 में से एक श्रमिक को रोजगार देने वाला महाराष्ट्र का उद्योग क्षेत्र भी तेजी से आगे नहीं बढ़ पाया है। 1996–97 और 2002–03 के बीच औद्योगिक जीडीपी वृद्धि दर मात्र 1.8 प्रतिशत रही है। 1996 से 2001 के बीच फैक्ट्री रोजगारों में 6 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई। राज्य भर में बंद होते जा रहे कारखानों की बाढ़ सी आ गई है और यह अपेक्षतया 'विकसित' राज्य इस समस्या से उबरने का रास्ता नहीं ढूंढ पा रहा है। **मार्च 1998 से दिसंबर 2002 के बीच 27,000 से ज्यादा लघु उद्योग इकाइयां और 1,215 मझौले एवं बड़े कारखाने बंद हो गए जिससे क्रमशः 1.35 लाख और 1.4 लाख लोग बेरोजगार हुए।**

राज्य के जीडीपी में सेवा क्षेत्र का हिस्सा 57 प्रतिशत है और यह 7–8 प्रतिशत सालाना की दर से बढ़ रहा है। बेशक, सेवा क्षेत्र में टेलरिंग, घरेलू नौकरी, मरम्मत, छोटी–मोटी दुकानों और फेरी जैसी तरह–तरह की गतिविधियां आती हैं मगर कड़वी सच्चाई यह है कि इन गतिविधियों की नियति भी कृषि एवं उद्योग क्षेत्र के विकास से बंधी हुई है क्योंकि ये सेवाएं मुहैया कराने वाले लोग वस्तुतः कृषि एवं उद्योग क्षेत्र में काम करने वालों की ही जरूरतों को पूरा करते हैं। जब मुंबई में कोई कपड़ा मिल बंद होती है तो उसके क्षेत्रफल में आने वाले छोटे–मोटे दुकानदार भी तबाह हो जाते हैं। सेवा क्षेत्र के जो हिस्से तेजी से बढ़ते जा रहे हैं वह असल में भारी मुनाफे वाले क्षेत्र हैं – जैसे बैंकिंग, मर्चेंट बैंकिंग, शेयरों की खरीद–फरोख्त, इंश्योरेंस, दूरसंचार, मंहगे रेस्टोरेंट, होटल, ट्रेवल एजेंसियां, स्पा एवं फिटनेस सेंटर्स, ब्यूटी पार्लर, शॉपिंग मॉल आदि–आदि। और ये सारी चीजें राज्य की राजधानी मुंबई में केंद्रित हैं। यहां यह जिक्र करना उपयुक्त होगा कि **सन् 2005 तक मुंबई में 22 शॉपिंग मॉल अस्तित्व में आ जाएंगे।**

25 साल पहले मुंबई एक औद्योगिक शहर था। अब उसे एक आर्थिक केंद्र की शक्ल दी जा रही है ताकि वह वैश्विक सट्टा पूंजी की चाकरी कर सके। इसके लिए विदेशी निवेशक और महाराष्ट्र सरकार द्रुत गति से आगे बढ़ते जा रहे हैं। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए विश्व बैंक भी यहां कई परियोजनाओं में पैसा लगा रहा है। उदाहरण के लिए, मुंबई शहरी यातायात परियोजना में 4,500 करोड़ रुपए और मुंबई शहरी ढांचागत परियोजना में 2,000 करोड़ रुपए का निवेश विश्व बैंक ने ही किया है। नई कांग्रेस सरकार ने भी शिवसेना–भाजपा सरकार के दौर में शुरू किए गए भारी–भरकम फ्लाईओवर निर्माण कार्यक्रम (50 फ्लाई ओवर, लागत 1500 करोड़ रुपए) को यथावत बनाए रखा है ताकि निजी कारें इस्तेमाल करने वाले शहर

के 9 प्रतिशत अभिजात्य तबके को सड़कों पर भीड़–भाड़ और परेशानियों का सामना न करना पड़े। भारी–भरकम खर्चे पर बहुत सारे फ्लाईओवरों और पैदल सुरंगों (इन सुरंगों को इसलिए नहीं बनाया जा रहा है कि उनसे पैदल चलने वालों को फायदा हो बल्कि उन्हें इसलिए बनाया जा रहा है ताकि पैदल चलने वाले कारों की रफ्तार में खलल न डाल सकें) की तैयारी की जा चुकी है। मुंबई में हवाई सड़कों और एक भूमिगत मेट्रो रेल व्यवस्था के निर्माण के प्रस्तावों पर संजीदगी से विचार किया जा रहा है (भूमिगत मेट्रो रेल व्यवस्था को 2021 तक तैयार करने का लक्ष्य रखा गया है और उसकी अनुमानित लागत 2003 की कीमतों के हिसाब से 20,000 करोड़ रुपए बैठने वाली है)। बांद्रा के आलीशान उपनगरीय इलाके से वरली तक समुद्र के ऊपर बनाया जा रहा पुल एक अलग परियोजना है। एक अनुमान के मुताबिक इस योजना पर लगभग 1500 करोड़ रुपए की लागत आने वाली है।

ऐसा लगता है कि भारतीय शेयर बाजारों में विदेशी संस्थागत निवेश (एफआईआई) की भारी आमद ने इस मुहिम में और अधीरता पैदा कर दी है क्योंकि इस विदेशी निवेश की भारतीय राजधानी भी मुंबई ही है। अमेरिका की जानी–मानी कंसल्टिंग कंपनी मैकिन्ज़े ने 'विजन मुंबई' के नाम से एक योजना तैयार की है। इस योजना का मकसद बंबई को एक "विश्वस्तरीय शहर" के रूप में ढाल देने का है। कंपनी का आग्रह है कि इस काम के लिए मौजूदा शहर को नेस्तनाबूद करके उसमें ईंट–दर–ईंट नए सिरे से निर्माण किया जाए। मैकिन्ज़े ने इस काम की लागत 2,00,000 करोड़ रुपए आंकी है जिसमें से 50,000 करोड़ रुपए सार्वजनिक कोष से और बाकी निजी निवेशकों की तरफ से आना है। सार्वजनिक कोष से पैसा उगाहने के लिए करों में इजाफे, चुंगी, पानी की कीमतों में इजाफे और 'प्रयोक्ता शुल्क' का रास्ता सुझाया गया है। ये सभी उपाय गरीबों के खिलाफ ही तो हैं।

रिपोर्ट में विशाल परिवहन परियोजनाओं पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया है। इसमें एक "भीतरी रिंग रेल" परियोजना, एक "एक्सप्रेस रिंग फ्रीवे" ("सभी विश्वस्तरीय शहरों के चारों तरफ एक्सप्रेस रिंग फ्रीवे – 6–8 लेन चौड़ी सड़कें जिन पर कोई सिग्नल नहीं होता – बनाए गए हैं जिन पर शहर के किसी भी स्थान से दस मिनट के भीतर पहुंचा जा सकता है") एक "इनर रिंग फ्रीवे", बाहरी रिंग रेल और फ्रीवे तक जाने वाले एक गोदी–पारीय रेल एवं सड़क संपर्क आदि–आदि का जिक्र किया गया है। पूरी रिपोर्ट में शहर की यातायात और प्रदूषण संबंधी समस्याओं के असली स्रोत – शहर के अमीर–उमरा द्वारा इस्तेमाल किए जा रही निजी गाड़ियों की संख्या में विस्फोटक इजाफे – से निपटने का कहीं जिक्र नहीं है।

यह बिल्डर लॉबी के सपनों की रिपोर्ट है। पर्यावरण की सुरक्षा के लिए बनाए गए कायदे–कानूनों (तटीय विनियामक जोन में निर्माण पर रोक–टोक), औकात से ज्यादा बोझ उठाए खड़े बुनियादी ढांचे में सुधार (इमारतों के तल परिधि सूचकांक के विषय में)

और झोपड़पट्टीवासियों के अधिकारों के लिए इस सपने में कोई जगह नहीं है। फिलहाल 1995 के बाद अस्तित्व में आई ज्यादातर झोपड़पट्टियों को बेदखली से सीमित सुरक्षा मिली हुई है। इसका मतलब है कि अगर कोई बिल्डर किसी झोपड़पट्टी की जमीन का इस्तेमाल करना चाहता है तो इस काम के लिए उसे कम से कम 70 प्रतिशत झोपड़पट्टीवासियों की मंजूरी लेनी होगी। मैकिन्ज़े रिपोर्ट में सुझाव दिया गया है कि इस शर्त को खत्म कर दिया जाए और पुनर्विकास प्रस्तावों में से केवल ऐसे प्रस्ताव को ही क्रियान्वित किया जाए जिसे सबसे ज्यादा वोट मिले हों। झोपड़पट्टिवासियों को जो नए कमरे मिलेंगे उन पर कब्जे के बाद उन्हें 750–1500 रुपए माहवार 'प्रयोक्ता शुल्क' के रूप में देने होंगे। अगर वह माहवार पैसा नहीं देना चाहते हैं तो एक निश्चित अवधि में इस राशि का एकमुश्त भुगतान भी कर सकते हैं। रिपोर्ट के मुताबिक नए मकान संपत्ति कर और जल शुल्क व्यवस्था के भी अधीन होंगे। रिपोर्ट में यह भी मांग की गई है कि अब शहर में "नई झोपड़पट्टियों को पैदा न होने दिया जाए।" (रिपोर्ट तैयार करने वाले इस बात को नहीं मानना चाहते कि शहरी गरीब इसलिए झोपड़पट्टियों में रहते हैं क्योंकि वह समुचित आवासीय सुविधाओं का खर्चा नहीं उठा सकते। ऐसी सूरत में "झोपड़पट्टियों को पैदा न होने दिया जाए" की नीति गरीबों के घर गिराने और उनके साथ जोर–जबर्दस्ती की वर्तमान नीति को ही और वैधता प्रदान करने का जरिया बन जाएगी।)

इस विश्वस्तरीय शहर में मजदूरों के लिए कोई जगह नहीं होगी। मैकिन्ज़े ने ऐलान कर दिया है कि इस शहर को एक प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय फाइनेंस केंद्र की पहचान में ढलना होगा। इस काम के लिए उद्योगों को राज्य के "पिछड़े इलाकों" में स्थित विशेष आर्थिक क्षेत्रों में महदूद कर दिया जाएगा, जहां "श्रम सुधारों को लागू किया जाएगा" – यानी श्रम कानूनों को खत्म कर दिया जाएगा। (हाल ही में राज्य के श्रम आयुक्त ने स्पष्ट रूप से कहा था कि परिवर्तित सरकारी नीति को ध्यान में रखते हुए अब मुंबई की औद्योगिक इकाइयों को बंद करने के लिए प्रबंधन को बेरोक–टोक इजाजत दी जा रही है।[20] 1981 से 1996 के बीच शहर में औपचारिक क्षेत्र रोजगार हर साल 0.6 प्रतिशत की दर से गिरते जा रहे हैं।)

'विज़न मुंबई' का कहना है कि 8–10 प्रतिशत की आर्थिक वृद्धि दर जरूरी है। यह मंजिल कैसे हासिल की जाएगी? इस आर्थिक चमत्कार को हासिल करने के लिए छः फौरी उद्देश्य ("कामयाबी के शर्तिया नुस्खे") भी तय किए गए हैं :

1. **हवाई अड्डों के आसपास के माहौल और निर्गम/आगम क्लीयरेंस की व्यवस्था में सुधार किया जाए।**
2. **सार्वजनिक–निजी सहभागिता के जरिए 2–3 'बेहतरीन' अस्पताल खोले जाएं।**
3. **सार्वजनिक–निजी सहभागिता के जरिए आधुनिक किस्म के 'रिटेल पार्क' बनाए जाएं और पिछड़े इलाकों में विशेष आर्थिक क्षेत्रों की आधारशिला रखी जाए।**

4. **मौजूदा चिड़ियाघर, एक्वेरियम, और जल संसाधनों को विश्व स्तर तक विकसित किया जाए ताकि पर्यटन उद्योग को बढ़ावा मिले।**
5. **बांद्रा–कुर्ला को एक विश्वस्तरीय व्यावसायिक जिले में रूपांतरित किया जाए (यानी वहां रेस्टोरेंट्स, कैफे, अंतर्राष्ट्रीय भवन मानकों की व्यवस्था की जाए)।"**

'आर्थिक विकास' से विज़न मुंबई का आशय यह है कि विदेशी पूंजी और विदेशी मांग के साथ एकीकृत सेवा क्षेत्र गतिविधियों का एक छोटा सा टापू विकसित कर दिया जाए।

इन सभी उपायों को लागू करने और किसी भी तरह के विरोध का गला घोटने के लिए मैकिन्ज़े रिपोर्ट में सुझाव दिया गया है कि शहर के लिए एक "प्रबंध निदेशक" का पद बनाया जाए और "दंगा नियंत्रण एवं विधि क्रियान्वयन में पुलिसकर्मियों को ठोस प्रशिक्षण दिया जाए।"

यह मैकिन्ज़े 'विजन' असल में एकतरफा बयानों के कचराछाप जमावड़े की 32 पेजी पुस्तिका मात्र है। इसमें जरूरी गणनाओं पर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इसके बावजूद, रिपोर्ट की खामियों पर उंगलियां खड़ी करने की बजाय राज्य सरकार और विपक्षी दलों ने इसे एक ईश्वरीय वाणी जैसा दर्जा दे दिया है। इस विजन को लागू करने के लिए राज्य सरकार के 15 सचिवों की बैठक बुलाई जा चुकी है। राज्य सरकार ने भी शहर की सिलसिलेवार ओवरहॉलिंग का इरादा जता दिया है : "फौरी कदम यह होगा कि कुछ सड़कों और संपर्क नेटवर्कों की अधिसूचना जारी की जाए। ये उसी तरह की सड़कें होंगी जैसी एक सड़क सहार हवाई अड्डे तक जाती है। इसके अलावा शहर के सौंदर्यीकरण की योजना भी शुरू की जाएगी। इस योजना का मकसद सिर्फ इतना ही नहीं है कि हमारी सड़कें भी विदेशी सड़कों के मुकाबले की हो जाएं बल्कि मकसद ये है कि सड़कों के आसपास के माहौल, जैसे दोनों तरफ स्थित इमारतें आदि, को भी खूबसूरत बनाया जाए।"

मैकिन्ज़े 'रिपोर्ट' का भारी–भरकम खर्चे के उन आंकड़ों से कोई खास लेना–देना नहीं है जो उसने पेश किए हैं। निजी निवेश के बारे में जो अनुमान व्यक्त किया गया है वह तो बिल्कुल ही समझ से बाहर है। इस रिपोर्ट का असली मकसद सट्टा पूंजी के हित में उठाए जा रहे कदमों की रफ्तार बढ़ाने के लिए एक माहौल बनाना भर है। मैकिन्ज़े की रिपोर्ट से उत्साहित होकर एक सर्वदलीय प्रतिनिधिमंडल ने अगस्त 2003 में प्रधानमंत्री से मिलकर शहर के यातायात और झोपड़पट्टियों की समस्या से "निपटने" के लिए 6,000 करोड़ रुपए की मांग तक कर डाली। प्रधानमंत्री से यह मांग करते हुए राज्य सरकार ने आश्वासन भी दिया था कि अपनी तरफ से भी वह इस काम के लिए 12,000 करोड़ रुपए का योगदान देगी। इस मुलाकात के कुछ ही समय बाद मुंबई में वाजपेयी ने ऐलान किया कि वह शहर की सबसे बड़ी झोपड़पट्टी बस्ती – धारावी – के 'विकास' के लिए 500 करोड़ रुपए का अनुदान दे रहे हैं। यह बस्ती बांद्रा–कुर्ला इलाके में बने शीशे की दीवार वाले नए–नए कारोबारी दफ्तरों और इमारतों के बहुत करीब पड़ती है इसलिए इन इमारतों में बैठने वालों की आंखों में सदा खटकती है। इसके जवाब में राज्य सरकार ने भी धारावी के लिए 5,600

करोड़ रुपए देने का ऐलान किया और इस इलाके में गगनचुंबी इमारतों पर लगी रोक में ढील दे दी (जिससे शहर के बुनियादी ढांचे पर भारी बोझ पड़ जाएगा)। उल्लेखनीय बात यह है कि सरकार ने झोपड़पट्टियों को गिराने और उनके पुनर्निर्माण के लिए झोपड़पट्टीवासियों की सहमति के प्रतिशत को भी कम कर दिया जिससे यह साफ हो जाता है कि आने वाले दिनों की शक्ल–सूरत कैसी होने जा रही है।

सनद रहे, अभूतपूर्व विलासिता की ये योजनाएं एक दिवालिया राज्य सरकार ने तैयार की हैं – एक ऐसी सरकार ने, जिस पर आज की तारीख में 94,000 करोड़ रुपए का कर्जा चढ़ा हुआ है। यह एक ऐसे राज्य की सरकार है जिसने पैसे की किल्लत के कारण इसी साल अपने योजनागत व्यय में तकरीबन आधी कटौती की है और जिसे अपनी सिंचाई परियोजनाओं को ठप्प हो जाने से बचाने के लिए जीवन बीमा निगम के सामने हाथ फैलाने पड़े। पैसे की कमी का हवाला देकर इस सरकार ने अपनी कपास खरीद योजनाओं को खत्म करने का भी प्रयास किया है जबकि राज्य के पूर्वी क्षेत्र के लाखों किसान इन्हीं योजनाओं पर आश्रित रहते हैं। अगस्त में जब सर्वदलीय प्रतिनिधिमंडल मुंबई की परिवहन व्यवस्था को दुरुस्त करने के लिए वाजपेयी से 6,000 करोड़ रुपए के अनुदान की गुहार लगा रहा था तभी राज्य सरकार अपने दस जिलों के 73 तालुका क्षेत्रों में भयानक सूखे के हालात से निपटने के लिए केंद्र सरकार से 1,000 करोड़ रुपए का कर्जा मांग रही थी। इस सूखे के कारण राज्य के देहाती इलाकों के दो करोड़ लोग (मुंबई की आबादी का लगभग दोगुना) बेहाल थे। बाद में राज्य सरकार ने यह मांग बढ़ाकर 1,700 करोड़ रुपए कर दी क्योंकि हालात दिन–ब–दिन मुश्किल होते जा रहे थे। और तो और, पीने के पानी और चारे का इंतजाम करना भी सरकार के बूते से बाहर होता जा रहा है। पर केंद्र सरकार भी कम निष्ठुर नहीं थी – इस मांग के जवाब में उसने केवल 170 करोड़ रुपए नकद और 200 करोड़ रुपए के अनाज का आश्वासन देकर अपनी जिम्मेदारी से छुट्टी पा ली।

इसका मतलब है कि **क्षेत्रीय असमानताएं केवल क्षेत्रों के बीच तक ही सीमित नहीं हैं। मुंबई में रहने वाले मेहनतकश और झोपड़पट्टीवासी, महाराष्ट्र के काश्तकार और बिहार के काश्तकार – सभी इन प्रक्रियाओं की मार झेल रहे हैं।** (मुंबई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री नीरज हाटेकर द्वारा किए गए एक हालिया अध्ययन में पाया गया कि **मुंबई की झोपड़पट्टियों में कुपोषण का स्तर ठाणे जिले के जनजातीय इलाकों में पाए जाने वाले कुपोषण के स्तर तक पहुंच गया है।**) सस्ते और आसानी से उपलब्ध बैंक ऋणों की सहायता से मध्यवर्ग के एक हिस्से ने अपने उपभोग में भारी इजाफा किया है – हालांकि बैंक ऋणों के आधार पर उपभोग में हो रही इस वृद्धि का बाद में उस वक्त बुरा असर भी हो सकता है जब इन लोगों के कर्जे आसमान छूने लगेंगे। जमींदारा. , महाजनों और अन्य ग्रामीण अभिजन को 'ग्रामीण विकास कोष' से पैसा पाने की पहले जैसी उम्मीद तो नहीं रही मगर अब उन्हें सीमांत किसानों और खेतिहर मजदूरों के शोषण का पहले से ज्यादा सुनहरा मौका मिल गया है। इस जरिए से वह ज्यादा से

ज्यादा जमीन भी अपने पास इकट्ठा कर सकते हैं। (इस बारे में आगे हम और विस्तार से चर्चा करेंगे)। और **विदेशी पूंजी की उठापटक से सीधे जुड़ा वर्ग कल्पना की तमाम सीमाओं से ज्यादा तेजी से फल–फूल रहा है।** कराधान और व्यय के अपने पैटर्न के जरिए राज्य इन गैरबराबरियों को लगातार बढ़ावा दे रहा है। **मुनाफा कमाने की चाह में बैंक पिछड़े इलाकों और उत्पादक गतिविधियों से पूंजी इकट्ठा करके उसे ज्यादा विकसित इलाकों और खाते–पीते तबके की सेवा में झोंक रहे** हैं। जैसे–जैसे इन सारी प्रक्रियाओं में और तेजी आएगी, जैसे–जैसे आबादी के एक छोटे से तबके के हाथों में ज्यादा से ज्यादा आय सिमटती चली जाएगी, यह तबका बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्पादों और सेवाओं का एक आकर्षक बाजार बनता चला जाएगा। इन तथ्यों से उपभोग और निवेश का जो पैटर्न सामने आता है, अब वही बढ़ती क्षेत्रीय असमानताओं के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है।

यहां इस बात को दर्ज करना जरूरी है कि यह स्थिति प्रतिक्रियावादी राजनीतिक ताकतों को भी फलने–फूलने एक अच्छा मौका मुहैया करा रही है। ऐसे हालात में ये ताकतें लोगों का ध्यान पिछड़ेपन और बेरोजगारी को जन्म देने वाली आर्थिक प्रक्रियाओं से हटाकर सारी समस्या को वर्गों की बजाय क्षेत्रों के सांचे में रखकर पेश करने लगती हैं।

टिप्पणियां :

19. बुवाई के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल" का आशय बोए गए कुल क्षेत्रफल से है; बुवाई के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल तथा एक से अधिक बार बुवाई वाले क्षेत्रफल का योग सकल फसली क्षेत्रफल होता है।

20. इकॉनॉमिक टाइम्स, 12/8/03.

6.

सार्वजनिक क्षेत्र निवेश में गिरावट से किसको फायदा है

इसमें कोई शक नहीं कि ये विकृतियां 1991 में भी मौजूद थीं पर यह भी सच है कि नई आर्थिक नीतियों के अस्तित्व में आने के बाद इनमें बेहिसाब इजाफा हो गया है। नई आर्थिक नीतियों ने पहले से भी कम हाथों में बेहिसाब दौलत इकट्ठा कर दी है, कृषि क्षेत्र की विकास दर को भारी चोट पहुंचाई है, उद्योग जगत में लाइसेंस और नियंत्रण की प्रणाली समाप्त कर दी है, औद्योगिक विकास दर में कमी ला दी है, 'सेवाओं' में बेहिसाब गति पैदा कर दी है, सार्वजनिक क्षेत्र निवेश में गिरावट ला दी है और केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा विकास के क्षेत्र में होने वाले व्यय पर अंकुश लगा दिया है।

टेबल 13:
राजकोषीय नीति (केंद्र एवं राज्य सरकारों का संयुक्त) (जीडीपी का प्रतिशत)

	1990–91	2002–03
सकल राजकोषीय घाटा	9.4	10.1
राजस्व घाटा	4.2	6.7
कर राजस्व	15.4	14.9
ब्याज भुगतान	4.4	6.5
कुल व्यय में पूंजी व्यय का प्रतिशत	13.1	9.6
राजस्व आय में ब्याज भुगतान का प्रतिशत	23.6	34
सकल राजकोषीय घाटे में राजस्व घाटे का प्रतिशत	44.6	66.7

–आरबीआई, एन्युअल रिपोर्ट 2002–03

भारतीय शेयर बाजारों में सक्रिय विदेशी सट्टेबाज और आईएमएफ के कर्ताधर्ता चाहते हैं कि सरकारी कर्जे में कमी की जाए। इस दबाव में सरकार ने पूंजीगत व्यय में कटौती

के जरिए अपने राजकोषीय लक्ष्यों को हासिल करने की जमकर कोशिश की है। उसने ऐसे व्यय कम कर दिए हैं जिनसे स्थायी उत्पादक संपदाओं का निर्माण होता है। 1990–91 में केंद्रीय योजनागत व्यय जीडीपी का 1.6 प्रतिशत था जो 2002–03 में घटकर 0.8 प्रतिशत रह गया। इसी अवधि में राज्यों एवं केंद्र शासित प्रदेशों की योजनाओं के लिए दी जाने वाली केंद्रीय सहायता भी जीडीपी के 1.2 प्रतिशत से घटकर 0.9 प्रतिशत रह गई।

सरकार की इन नीतियों से उलटे नतीजे निकले हैं क्योंकि कम निवेश से वृद्धि दर में गिरावट आती है, जिससे अंततः कर राजस्व घटता है। आरबीआई का कहना है : "घाटे को पूरा करने के लिए व्यय में कटौती से संबंधित बृहत्तर प्राथमिकताओं के फलस्वरूप पूंजीगत व्यय में भारी गिरावट आई है जिससे अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता को विस्तार प्रदान करने में गंभीर कठिनाइयां पैदा होंगी।"

सरकार ने साम्राज्यवादी देशों और उनके संस्थानों की मांग का सम्मान करते हुए कस्टम ड्यूटी में भी कटौती कर दी है। इसका नतीजा यह हुआ है कि कस्टम ड्यूटी के जरिए होने वाली आय, जो 1990–91 में जीडीपी का 3.6 प्रतिशत थी, 2002–03 में घटकर महज 1.8 प्रतिशत रह गई। कम निवेश और कस्टम ड्यूटी में कटौती, दोनों नीतियों से जीडीपी में कर राजस्व का हिस्सा कम हुआ है। इसके फलस्वरूप राजस्व घाटा, यानी स्थायी परिसंपत्तियों के निर्माण की बजाय केवल मौजूदा खर्चों को पूरा करने के लिए उठाए जाने वाले सरकारी कर्जों का हिस्सा जीडीपी के 4.2 प्रतिशत से बढ़कर 6.7 प्रतिशत पर पहुंच गया है। सरकारी कर्जे का दो–तिहाई हिस्सा सिर्फ मौजूदा खर्चों को पूरा करने पर व्यय हो रहा है।

अब जबकि सार्वजनिक क्षेत्र निवेश में कटौती ही सरकारी कर्जों में इजाफे का मुख्य स्रोत बन गई है (क्योंकि इससे विकास दर में आने वाली गिरावट से कर राजस्व में भी गिरावट आ जाती है) तो सरकारी कर्जों में कटौती के दबाव को औने–पौने दाम में सरकारी परिसंपत्तियों की बिक्री की दलील के तौर पर इस्तेमाल किया जा रहा है। इस दलील के आधार पर सरकार अकेले मार्च 2004 में 13,365 करोड़ रुपए और 2004–05 में 16,000 करोड़ रुपए उगाहने की योजना बना रही है। यह विदेशी संस्थागत निवेशकों और भारतीय शेयर बाजारों में बैठे सट्टेबाजों के लिए एक जबर्दस्त तोहफा है। जी हां, राजकोषीय घाटे में कटौती की साम्राज्यवादी संस्थानों की मांग का निहितार्थ यही है।

7.

बेरोजगारी का मंजर

संगठित क्षेत्र रोजगारों में वृद्धि दर पहले तो कम हुई और उसके बाद दशक के अंत तक आते–आते शून्य से भी नीचे चली गई यानी नकारात्मक हो गई। हालांकि हमारे पास केवल मार्च 2001 तक के ही आंकड़े उपलब्ध हैं मगर संभवतः योजना आयोग के ही एक सदस्य ने जनवरी 2004 में कहा था कि "औद्योगिक क्षेत्र में पिछले एक साल के दौरान लगभग दस लाख रोजगार खत्म हुए हैं।" (बिजनेस स्टेंडर्ड, 20/1/04)

टेबल 14:
संगठित क्षेत्र रोजगारों में वार्षिक इजाफा (लाख रोजगार)

1990–91	3.9
1991–92	3.2
1992–93	1.2
1993–94	2.0
1994–95	1.5
1995–96	4.1
1996–97	3.1
1997–98	–0.8
1998–99	–0.6
1999–00	–1.5
2000–01	–1.7

उदारीकरण के दौर में न केवल संगठित क्षेत्र रोजगारों बल्कि सभी तरह के रोजगारों के हालात खराब हुए हैं। सरकार की अपनी गणनाओं के मुताबिक, 'उदारीकरण' से पहले की अवधि में रोजगार वृद्धि दर 2.7 प्रतिशत वार्षिक थी जो 'उदारीकरण' की अवधि में एक

प्रतिशत वार्षिक से महज जरा सा ऊपर रह गई। पहले वाली अवधि में नए रोजगारों की संख्या 76 लाख प्रतिवर्ष थी जो बाद की अवधि में केवल 35 लाख प्रतिवर्ष रह गई। यह एक विनाशकारी घटनाक्रम है। **विकास का पैटर्न कुछ ऐसा रहा है कि जीडीपी में जितना इजाफा होता है रोजगारों में इजाफे की दर उतनी ही कम हो जाती है।**

इसी अंक के एक अन्य लेख में हमने दर्शाया है कि खुद सरकार की अपनी गणनाओं के मुताबिक भी काम की तलाश में निकलने वाले नए कामगारों को काम देने के लिए वार्षिक जीडीपी वृद्धि दर 8 प्रतिशत से अधिक होनी चाहिए। इसके बाद हमने यह भी दर्शाया है कि काम की तलाश में निकलने वाले व्यक्तियों की संख्या को कम करके दिखाने के लिए सरकार कौन–कौन से हथकंडे अपना रही है। मसलन, सरकार उन लोगों को इस श्रेणी से बाहर निकाल देती है जो रोजगार की संभावना दिखाई न देने पर रोजगार की तलाश छोड़ चुके हैं ('हतोत्साहित श्रमिक')। बहरहाल, अगर हम पूरी तरह तार्किक आधार पर यह मान लें कि श्रम बाजार में आ रहे नए लोगों का प्रवाह अस्सी के दशक की तरह ही बना हुआ होगा तो भी विकास के वर्तमान रुझान की वजह से जीडीपी वृद्धि दर केवल नए आगुंतकों को रोजगार देने के लिए भी कम से कम 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष होनी चाहिए। यह किसी भी लिहाज से नामुमकिन लक्ष्य है। इसका मतलब है कि अगर हालात ऐसे ही रहे तो आने वाले सालों में बेरोजगारों की फौज और तेजी से बढ़ती जाएगी।

बेरोजगारों की संख्या का सही–सही अनुमान किस तरह लगाया जाए? 'हतोत्साहित श्रमिकों' को बेदखल करके सरकार ने 1999–2000 में बेरोजगारी का आंकड़ा श्रमशक्ति (जो रोजगार में हैं और जो रोजगार चाहते हैं) का मात्र 7.3 प्रतिशत बताया था। मगर सुसंगत गणनाओं के लिए यह ज्यादा बेहतर रहेगा कि कामकाजी आयु वर्ग (15 से 59 वर्ष) में आने वाली समूची आबादी को श्रमशक्ति का हिस्सा मान लिया जाए। इस आधार पर हम पाते हैं कि मार्च 2004 तक कामकाजी उम्र की आबादी 66.2 करोड़ हो चुकी होगी जिसमें से 31.3 करोड़ लोग, यानी कामकाजी आयु वर्ग की लगभग आधी आबादी किसी तरह का रोजगार हासिल नहीं कर पाएगी क्योंकि मौजूदा आर्थिक व्यवस्था और आर्थिक नीतियां इन लोगों को रोजगार देने की इजाजत नहीं देती। इनमें से लगभग 10 करोड़ कामकाजी उम्र के पुरुष भी किसी भी तरह के काम से महदूद रह जाएंगे। इतना ही नहीं, **कामकाजी उम्र के लोगों की संख्या हर साल लगभग 1.8 करोड़ की दर से बढ़ती जा रही है जबकि रोजगारों में सालाना इजाफा 40 लाख से भी कम है।**

हमें याद रखना चाहिए कि 'रोजगार' में आजीविका स्तर से भी नीचे पड़ने वाले तमाम तरह के काम शामिल होते हैं। रोजगारशुदा का मतलब सिर्फ "लाभदायक गतिविधियों" में हिस्सेदारी से है, जिसमें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि व्यक्ति अपनी न्यूनतम बुनियादी जरूरतों की पूर्ति के लायक भी कमा पा रहा है या नहीं। भारत में, जहां कोई बेरोजगारी लाभ नहीं मिलता और जहां गरीबी इतनी ज्यादा है वहां लोग बेरोजगार रहने का जोखिम नहीं उठा सकते; वह जो कुछ भी मिलता है वही काम वे करने लगते हैं। इसके लिए उन्हें स्वरोजगार का रास्ता अपनाना पड़े तो उस पर भी वहां एतराज नहीं उठा सकते।

8.

भूख

कई संकेतक – वयस्कों में स्थायी कमजोरी, बच्चों का कम वजन एवं कम कद, और महिलाओं व बच्चों में खून की कमी – इस बात की ओर इशारा करते हैं कि हमारे देश की तकरीबन आधी आबादी महज इसलिए अपेक्षित शारीरिक स्तर तक नहीं पहुंच पाती क्योंकि उसे पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। इस रोशनी में देखने पर पता चलता है कि सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को खत्म करने के लिए सरकार द्वारा चलाई जा रही मुहिम के भयानक परिणाम सामने आने लगे हैं और यह आशंका पूरी तरह निराधार नहीं है कि आने वाले सालों में हालात और बदतर हो जाएंगे।

'उदारीकरण' के दौर में विश्व बैंक के कहने पर सरकार ने सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के तहत मिलने वाले अनाज की कीमतों में बार–बार इजाफा किया है। 1990–91 से 1999–2000 के बीच खाद्यान्नों की कीमतों में बाकी चीजों की कीमतों के मुकाबले 30 प्रतिशत का इजाफा हुआ है। इसका परिणाम यह है कि 1991 से 1998 के बीच लोगों को खाद्यान्नों के वार्षिक उपभोग में प्रति व्यक्ति 16.3 किलोग्राम या 81.5 किलोग्राम प्रति परिवार (पांच व्यक्ति) कटौती करनी पड़ी।

वर्ष 1997 में संयुक्त मोर्चा सरकार ने लक्ष्यकेंद्रित सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (टीपीडीएस) लागू की थी। इसके बाद भाजपा के नेतृत्व में बनी राजग सरकार भी इसी योजना को लागू करती रही। टीपीडीएस योजना के तहत उन लोगों के लिए चीजों की कीमतें बढ़ा दी गईं जिन्हें "गरीबी की रेखा से ऊपर" (एपीएल) माना जा रहा था। इस श्रेणी के लोग़ों को बाजार में प्रचलित दरों पर या उससे भी ज्यादा कीमत पर चीजें दी जाने लगीं। इस घटनाक्रम के फलस्वरूप इस तबके के लोगों ने सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के तहत अनाज खरीदना बंद कर दिया और वस्तुतः उनके अनाज उपभोग में गिरावट आने लगी। जिन लोगों को "गरीबी की रेखा से नीचे" (बीपीएल) वाली श्रेणी में

रखा गया था उन्हें मिलने वाले अनाज की कीमतें भी बढ़ा दी गईं जिसका परिणाम यह हुआ कि वह सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के तहत उपलब्ध पूरे कोटे का इस्तेमाल नहीं कर पाए। इस अवधि में सकल आर्थिक वृद्धि दर और रोजगार वृद्धि दर भी ठहर गई है जिसकी वजह से असंख्य श्रमिकों के लिए दो वक्त की रोटी का खर्चा वहन करना भी मुश्किल हो गया। इसका मतलब है कि प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग में गिरावट पहले वाली अवधि के मुकाबले 1998 से 2001 के बीच और भी ज्यादा तेज रही होगी।

वर्ष 1998 में प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग पहले ही सामान्य से काफी गिरकर केवल 144.9 किलोग्राम रह गया था जबकि न्यूनतम मानक स्तर 157 किलोग्राम निर्धारित किया गया है। वैसे, हमारे देश में अनाज की वास्तविक जरूरत 157 किलोग्राम से भी ज्यादा होनी चाहिए क्योंकि हमारे देश में लोग जो आहार लेते हैं उसमें उतनी विविधता नहीं होती जितनी मानक आहारों में अपेक्षा व्यक्त की गई है। हमारे देश में अन्य खाद्य पदार्थों के मुकाबले अनाज ही कैलोरी और प्रोटीन के सबसे सस्ते साधन हैं। हमारी आबादी का सबसे निचला 40 प्रतिशत तबका अपने आहार बजट का एक तिहाई अनाजों पर खर्च करता है मगर उसी से तीन चौथाई पोषण हासिल करता है। इसका मतलब है कि ये लोग अपने पोषण के लिए अनाजों पर ही सबसे ज्यादा निर्भर रहते हैं।

जब एपीएल तबके द्वारा खरीदे जाने वाले अनाज की मात्रा में तेजी से गिरावट आने लगी और बीपीएल तबका भी अपने निर्धारित कोटा का दोहन कर पाने की स्थिति में नहीं रहा तो दिसंबर 1997 में खाद्यान्नों का जो भंडार 1.8 करोड़ टन था वह दिसंबर 2001 तक बढ़ते–बढ़ते 5.8 करोड़ टन पर पहुंच गया। जाहिर है कि अनाज भंडारों में यह वृद्धि गरीबों को भोजन से वंचित कर देने की नीति का नतीजा थी। तथाकथित खाद्य सब्सिडी 1996–97 के 6,066 करोड़ रुपए से बढ़कर 2002–03 में 24,200 करोड़ रुपए तक पहुंच गई। इस राशि का आधा हिस्सा बफर स्टॉक स्तर से ज्यादा अनाज के भंडारण पर खर्च किया गया। इसका मतलब है कि यह खाद्य सब्सिडी नहीं बल्कि विश्व बैंक द्वारा थोपी गई नीति के लिए सब्सिडी ज्यादा थी।

अनाज भंडारों के इस भयानक ढेर को देख कर सरकार, बहुत सारे विद्वान अर्थशास्त्री और संपादकीय टीकाकार निर्लज्ज होकर यह दलील तक देने लगे कि अब हमारे देश में अनाज की ज्यादा जरूरत ही नहीं बची है। अधिकृत दस्तावेजों में ऐलान कर दिया गया कि लोगों की दिलचस्पियां और जीवनशैली बदल चुकी हैं; अब वह खाना खाने में नहीं बल्कि बाकी चीजों में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं और यहां तक कि भोजन में होने वाले व्यय में भी वह दूध, मांस–मछली और सब्जी जैसे उच्च गुणवत्ता वाले अन्य खाद्य पदार्थों को ज्यादा प्राथमिकता देने लगे हैं। कुछ प्रख्यात अर्थशास्त्रियों ने दलील दी कि अर्थव्यवस्था में आए बदलाव – जैसे खेती का मशीनीकरण और सार्वजनिक यातायात व्यवस्था के निर्माण – की वजह से अब लोग पहले जितना शारीरिक श्रम नहीं करते इसलिए अब वह पहले के मुकाबले कम कैलोरी

आहार से काम चला सकते हैं। यह बताया गया कि अब हमारे देश को पहले जितने अनाज की जरूरत नहीं है। **जब सारे गुनीजन कह ही चुके थे तो प्रधानमंत्री भी भला क्यों पीछे रहते, उन्होंने भी फौरन किसानों से आग्रह कर डाला कि अब वह ज्यादा अनाज उगाने की सिरदर्दी छोड़ दें।**

पर, बड़े अचंभे की बात है कि – फरवरी 2004 में – हमें अचानक पता चला कि हमारे खाद्यान्न भंडार तकरीबन समाप्त हो चुके हैं और गेहूं की मात्रा बफर स्टॉक के लिए निर्धारित न्यूनतम मानक से भी नीचे पहुंच गई है! तो फिर यह सारा अनाज गया कहां? इसमें कोई शक नहीं कि पिछले कई सालों के मुकाबले 2002–03 में पीडीएस वितरण में उल्लेखनीय इजाफा किया गया था। इसके अलावा सरकार ने काम के बदले अनाज योजना और स्कूलों में अपरान्ह भोजन योजना जैसे कल्याणकारी कार्यक्रमों के जरिये भी बहुत सारे अनाज को ठिकाने लगा दिया था। मगर तीन दूसरे क्षेत्र भी थे जहां बहुत सारा सब्सिडीयुक्त अनाज जा रहा था। यह थे – अनाज का निर्यात, खुले बाजार में व्यापारियों को अनाज की बिक्री, और अनाज की चोरी।

अप्रैल 2000 से नवंबर 2003 के बीच सरकार ने 2.48 करोड़ टन अनाज का निर्यात किया। सरकार ने इस निर्यात पर यथासंभव सब्सिडी दी। बल्कि इस अनाज के ज्यादातर हिस्से पर तो बीपीएल परिवारों को मिलने वाली सब्सिडी से भी ज्यादा सब्सिडी दी जा रही थी। अनुमान है कि साढ़े तीन साल की अवधि में निर्यात किए गए इस अनाज पर 12,500–15,000 करोड़ रुपए तक की सब्सिडी दी गई होगी।

अप्रैल 2000 से नवंबर 2003 के बीच ही 1.37 करोड़ टन अनाज निजी व्यापारियों को बेच दिया गया। यह अनाज भी रियायती दरों पर (इस अनाज पर दी गई सब्सिडी 7,000–8,000 करोड़ रुपए के आसपास बैठती है) बेचा गया था। मगर व्यापारियों ने यह अनाज रियायती दरों पर नहीं बेचा बल्कि बाजार में प्रचलित सामान्य दरों पर बेचा और इस तरह जमकर मुनाफा कमाया।

तीसरा, एफसीआई के गोदामों में पड़े अनाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा न जाने कैसे (!), बस गायब हो गया। हालांकि कुछ अनाज निश्चत ही सड़ गया होगा जिसकी वजह से उसका उपभोग नहीं किया जा सकता था, मगर 1.47 करोड़ टन का घाटा सिर्फ सड़ने की वजह से नहीं हो सकता।

अप्रैल 2002 से नवंबर 2003 के बीच 6.4 करोड़ टन की सरकारी खरीद हुई मगर नवंबर 2003 में अनाज का भंडार गिरकर मात्र 2.2 करोड़ टन रह गया। फरवरी 2004 में यह मात्रा और भी नीचे चली गई। जनवरी 2004 तक आते–आते एफसीआई के गोदामों में महज 70 लाख टन गेहूं बचा था जो कि वर्ष के इस समय के हिसाब से निर्धारित न्यूनतम बफर स्टॉक मानकों से भी कम है।

जैसा कि इस अंक के एक अन्य लेख में चर्चा की गई है, आने वाले सालों में सरकार को अनाज का बड़े पैमाने पर आयात भी करना पड़ सकता है। समस्या तब और विकट हो जाती है जब हम देखते हैं कि दुनिया भर में अनाज के गोदाम खाली होते जा रहे हैं और उत्पादन उपभोग के स्तर से भी नीचे पहुंचता जा रहा है। ऐसे हालात में अंतर्राष्ट्रीय कीमतें उस स्तर तक भी पहुंच सकती हैं जहां साम्राज्यवादी देश अपने गेहूं और चावल पर दी जाने वाली सब्सिडी खत्म करके अपने महंगे खाद्यान्नों को भी भारत जैसे भोजन को तरसते देशों को बेचने में कामयाब हो जाएंगे।

9.

परजीविता

सवाल यह उठता है कि जीडीपी वृद्धि दर के दावों और उपरोक्त आंकड़ों से झांकने वाली हकीकत का एक दूसरे से तालमेल कैसे बिठाया जाए? सच्चाई यह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था इस हद तक विकृत हो चुकी है कि उसकी 'विकास दर' के परंपरागत पैमाने हो सकता है किसी ठोस अर्थ में विकास का प्रतिनिधित्व ही न करते हों।

अर्थव्यवस्था के तीन क्षेत्रें – कृषि एवं संबंधित गतिविधियां, उद्योग, तथा सेवा क्षेत्र – में तीसरा क्षेत्र बाकी दोनों क्षेत्रों से काफी अलग है। अर्थव्यवस्था का बुनियादी भौतिक कुशलक्षेम पहले दोनों क्षेत्रों में पैदा होने वाले उत्पादों पर ही निर्भर करता है। खेती और उद्योगों में पैदा होने वाली वस्तुओं का एक हिस्सा इन क्षेत्रों के श्रमिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है; और जो कुछ बच जाता है वह सेवा क्षेत्र में काम करने वालों को मिल जाता है। जैसे–जैसे कृषि एवं उद्योग क्षेत्र में उत्पादन विकसित होता जाता है, यह अधिशेष बढ़ता जाता है और ज्यादा से ज्यादा विकसित सेवा क्षेत्र को टिकाये रखना आसान हो जाता है। जाहिर है कि भारत जैसी पिछड़ी अर्थव्यवस्था के मामले में, जहां असंख्य लोग भौतिक जरूरतों को भी पूरा नहीं कर पा रहे हैं, भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में इजाफा ही है जिसे अर्थव्यवस्था की सेहत का असली संकेतक माना जा सकता है :

"कहने का मतलब यह नहीं है कि सेवा क्षेत्र के सभी उत्पाद या गतिविधियां सामाजिक रूप से अनावश्यक होती हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, और ऐसी ही कई अन्य गतिविधियां निश्चय ही अत्यंत उपयोगी हैं। इसी प्रकार प्रशासन और रक्षा प्रतिष्ठान जैसे कई अन्य कार्य भी समाज को किसी भौतिक या गुणात्मक लिहाज से भले समृद्धि प्रदान न करते हों मगर सामाजिक, राजनीतिक या सामरिक दृष्टिकोण से इस तरह के व्यय अनिवार्य हो सकते हैं। वर्तमान संदर्भ में सेवा क्षेत्र की वैधता पर मुख्य आपत्ति उसकी सामाजिक उपादेयता या अनुपादेयता के नजरिए से नहीं है बल्कि किसी और पहलू की वजह से है।

"अगर प्रति व्यक्ति एनएनपी (शुद्ध भौतिक उत्पाद – कृषि, उद्योग एवं निर्माण की प्रक्रिया में मूल्य संवर्धन) एक अवधि के दौरान स्थिर रहता है मगर प्रति व्यक्ति तृतीयक (सेवा क्षेत्र) आय बढ़ती जाती है तो इसका मतलब है कि कृषि एवं औद्योगिक वस्तुओं की उतनी ही प्रति व्यक्ति मात्रा विभिन्न क्षेत्रों के श्रमिकों के बीच पुनर्वितरित हो रही है। पुराने जमाने में ज्यादातर इलाके अनाज के मोर्चे पर तुलनात्मक रूप से आत्मनिर्भर होते थे जबकि अब अनाज की विशाल मात्रा देश के उत्तर–पश्चिमी कोने से देश के अन्य भागों में भेजी जा रही है जिससे यातायात एवं वितरण लागतों के रूप में तृतीयक आय में इजाफा हो जाता है। वर्तमान हालात में इन लागतों से बचना किसी भी तरह संभव नहीं है। मगर क्या इस लागत से हमारा समाज किसी सार्थक अर्थ में समृद्ध हुआ है? राष्ट्रीय आय सांख्यिकी की परंपरागत पद्धति से देखें तो हरियाणा से आयात किए गए और केरल में उपभोग किए जाने वाले एक किलोग्राम चावल में मूल्य संवर्धन की मात्रा केरल के उन्हीं व्यक्तियों के दादा–परदादाओं द्वारा स्थानीय उत्पादन से प्राप्त किए गए चावल की उसी मात्रा से अधिक होगी; क्योंकि अब चावल की परिवहन एवं वितरण लागतें बहुत बढ़ चुकी हैं। निश्चय ही केरल के लोग अपने दादा–परदादाओं के मुकाबले ज्यादा संपन्न नहीं हैं। सेवा क्षेत्र के समावेश की मेहरबानी से राष्ट्रीय आय में कृत्रिम इजाफे के ऐसे बहुत सारे उदाहरण दिए जा सकते हैं।"[21]

हाल के समय में ऐसे उदाहरणों की भरमार रही है। क्योंकि सरकारी सेवाओं को जीडीपी में इस लिहाज से आंका जाता है कि उन पर कितना खर्चा किया गया है इसलिए पांचवे वेतन आयोग की रिपोर्ट के फलस्वरूप वेतन के मद में हुआ इजाफा ही जीडीपी में भारी इजाफे का स्रोत बन गया था जबकि अर्थव्यवस्था में उपलब्ध वस्तुओं या सेवाओं की कुल मात्रा में कोई फर्क नहीं आया था। नब्बे के दशक में वित्तीय फर्मों की भी बाढ़ आ गई। इन कंपनियों के मुनाफे और वेतनों के मद में होने वाला व्यय भी जीडीपी में वृद्धि के रूप में गिना जाता है – भले ही ये कंपनियां सिर्फ शेयरों और बॉन्ड्स की खरीद–फरोख्त में लगी हों, एक ऐसी गतिविधि जो भौतिक कुशलक्षेम में सुधार के लिहाज से किसी काम की नहीं होती।[22]

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में अर्थव्यवस्था के तीनों क्षेत्रों – कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्र – के आनुपातिक हिस्सों में बदलाव आना सामान्य बात होती है। हजारों साल से मानव समाज मुख्यतः खेती पर निर्भर रहा है। शासक वर्ग एवं उनके राज्य तंत्र भी कृषि क्षेत्र में पैदा होने वाले अधिशेष से ही अपना पेट भरते थे। मगर जैसे–जैसे एक समाज विकसित होता है, अधिकाधिक उन्नत उत्पादक शक्तियों की सहायता से उद्योग क्षेत्र मूल्य संवर्धन में अधिकाधिक बड़ा योगदान देने लगता है। (यह बदलाव इस तथ्य के बावजूद आता है कि आधुनिक पद्धतियों के प्रयोग से कृषि क्षेत्र की उपज भी बढ़ जाती है।) विकास के और उन्नत चरण में जब समाज की मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चीजों की कोई कमी नहीं होती, उस समय विभिन्न प्रकार की सेवाओं – मनोरंजन, ऐश्वर्य, यात्रा, बेहतर चिकित्सा, बेहतर शिक्षा, बढ़िया

संचार, खुदरा दुकानों, रेस्टोरेंट्स, एवं वित्तीय सेवाओं – की मांग में इजाफा हो जाता है।

मगर हमारे देश में एक अजीब घटना घट रही है। जीडीपी में कृषि क्षेत्र का हिस्सा निस्संदेह घटा है। मगर अचरज की बात यह है कि जीडीपी में उद्योग क्षेत्र का हिस्सा भी घटता जा रहा है हालांकि अभी उसने अर्थव्यवस्था में निर्णायक वर्चस्व की स्थिति भी प्राप्त नहीं की थी। इन दोनों क्षेत्रों की बजाय सेवा क्षेत्र कहीं ज्यादा तेजी से विकसित हुआ है और अब जीडीपी में उसका हिस्सा 56 प्रतिशत तक पहुंच गया है। हाल के सालों में प्रति व्यक्ति आय में कथित आकर्षक वृद्धि के लिए यही क्षेत्र जिम्मेदार रहा है।

अगर सेवा क्षेत्र को छोड़ दें और केवल कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों (कॉमोडिटी क्षेत्र जीडीपी) पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इन क्षेत्रों में मूल्य संवर्धन की रफ्तार घिसटने के स्तर तक पहुंच चुकी है। 1996–97 और 2002–03 के बीच यह दर केवल 0.7 प्रतिशत प्रति व्यक्ति की वार्षिक दर तक जा पहुंची। (जीडीपी की नई श्रृंखला को लाभ पहुंचाए बिना, जो कृषि जीडीपी को सुनियोजित ढंग से बढ़ा–चढ़ाकर पेश करती है, ऐसे में हमें संभवतः यह दिखाई देगा कि उस अवधि में प्रति व्यक्ति कॉमोडिटी क्षेत्र जीडीपी वस्तुतः गिरता जा रहा था।)

टेबल 15:
जीडीपी में विभिन्न क्षेत्रों का हिस्सा (फैक्टर लागत पर जीडीपी, 1993–94 की कीमतें)

	कृषि	उद्योग	सेवाएं	कुल	सेवाएं प्रतिशत
1970–71	137320	46151	113438	296278	38%
1980–81	159293	70687	171148	401128	43%
1990–91	223114	150383	319374	692871	46%
2000–01	285877	263797	649011	1198685	54%
2001–02	302054	272359	691016	1265429	55%
2002–03	292625	288266	739842	1320733	56%

– आरबीआई, हैंडबुक ऑफ स्टेटेस्टिक्स ऑन दि इंडियन इकॉनॉमी।

भारत में सेवा क्षेत्र के चौतरफा विकास और औद्योगिक क्षेत्र के हिस्से में गिरावट का रुझान कुछ अन्य एशियाई देशों के विपरीत पड़ता है। 2001 में चीन के जीडीपी में उद्योगों का हिस्सा 51.1 प्रतिशत, मलेशिया के जीडीपी में उद्योगों का हिस्सा 49.6 प्रतिशत, इंडोनेशिया के जीडीपी में उद्योगों का हिस्सा 46.5 प्रतिशत, कोरिया के जीडीपी में उद्योगों का हिस्सा 41.4 प्रतिशत और थाईलैंड के जीडीपी में उद्योगों का हिस्सा 42.2 प्रतिशत था। मगर भारत में यह 2001 तक आते–आते केवल 26.4 प्रतिशत रह गया था जबकि 1990 में यह 29.3 प्रतिशत था। (देखें टेबल 16)

टेबल 16:
चीन, मलेशिया एवं भारत के जीडीपी में विभिन्न क्षेत्रों का बदलता हिस्सा (वर्तमान बाजार मूल्यों पर जीडीपी)

देश	कृषि			उद्योग			सेवाएं		
	1980	1990	2001	1980	1990	2001	1980	1990	2001
चीन	30.1	27	15.2	48.5	41.6	51.1	21.4	31.3	33.6
मलेशिया	-	15.2	8.4	-	42.2	49.6	-	42.6	41.9
भारत	38.1	31	24.7	25.9	29.3	26.4	36	39.7	48.8

आर्थिक सर्वेक्षण, 2002–03

रोजगारों में भी उद्योग जगत का हिस्सा नहीं बढ़ रहा है। 1999–2000 में रोजगारों में उद्योग (निर्माण उद्योग सहित) जगत का हिस्सा केवल 17.5 प्रतिशत यानी 1987–88 के बराबर था। जिन श्रमिकों को कृषि क्षेत्र में रोजगार नहीं मिल पाता उन्हें उद्योगों में भी रोजगार नहीं मिल पाता और वह 'सेवा' क्षेत्र के निचले सिरे पर जाकर लटक जाते हैं। वह छोटे–मोटे फेरी वाले और इसी तरह के छुट–पुट बेरोजगारी वाले व्यवसायों में काम करने लगते हैं।[23] 1987–88 से 1999–2000 के बीच रोजगारों में कृषि क्षेत्र का हिस्सा 60.1 प्रतिशत से गिरकर 56.7 प्रतिशत रह गया। रोजगारों में जो गिरावट – 3.4 प्रतिशत – आई वह सेवा क्षेत्र के हिस्से में चली गई।

टेबल 17:
रोजगारों में कृषि, उद्योग एवं सेवा क्षेत्र का हिस्सा (आकस्मिक दैनिक स्थिति आधार)

	1983–84	1987–88	1993–94	1999–00
कृषि	63.2	60.1	60.4	56.7
उद्योग	15.6	17.6	15.8	17.6
सेवा	21.2	22.3	23.8	25.7

आर्थिक सर्वेक्षण, 2002–03

सरकार किसी भी तरह इस आशय का संकेत देना चाहती है कि सेवा क्षेत्र में जो इजाफा हो रहा है वह सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र (यानी सॉफ्टवेयर सेवाएं और सूचना प्रौद्योगिकी, दोनों की वजह से पैदा हुए व्यवसायों – कॉल सेंटर आदि) की देन है। इसमें कोई शक नहीं कि सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र तेजी से पनप रहा है मगर वह एक बहुत सीमित आधार से विकसित हो रहा है जिसका परिणाम यह है कि 2002–03 में जीडीपी में उसका हिस्सा केवल 3.2 प्रतिशत और रोजगारों में 0.2 प्रतिशत से भी कम था।

पुनश्चः, भारत जैसी पिछड़ी अर्थव्यवस्था, जहां लोगों के पास एक मानवोचित अस्तित्व बनाए रखने के लिए पर्याप्त भौतिक साधन भी नहीं हैं और गरीबी की वजह से वह पर्याप्त अनाज भी नहीं खरीद सकते, जहां कपड़ों और साबुन की खपत घटती जा रही

है, में सेवा क्षेत्र की तेज प्रगति इस बात का संकेत नहीं है कि लोगों की भौतिक कुशलक्षेम में सुधार आ रहा है। बल्कि, सेवा क्षेत्र की यह अनपेक्षित तरक्की इस बात का संकेत है कि उत्पादक क्षेत्र से अधिकाधिक निचोड़ कर उपभोग हो रहा है। यह बात तब और भी ज्यादा साफ दिखाई देती है जब हम इस बारे में विचार करते हैं कि अर्थव्यवस्था का उत्पादक क्षेत्र न केवल मंदी का शिकार है, बल्कि पीछे की तरफ जाने लगा है।

टिप्पणियां :

21. एन. के. चंद्रा, "लॉग टर्म स्टेगनेशन इन दि इंडियन इकॉनॉमी", दि रिटार्डेड इकॉनॉमीज़, फॉरेन डॉमिनेशन एंड क्लास रिलेशंस इन इंडिया एंड अदर इमर्जिंग नेशंस, 1988, पृष्ठ 178.

22. सेवा क्षेत्र की आय निम्नलिखित शीर्षकों के तहत समूहबद्ध की गई है : 'समुदायिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सेवाएं', जो मुख्यतः सरकार का अंग हैं; 'फाइनेंस, बीमा, रीयल एस्टेट, व्यावसायिक सेवाएं'; 'व्यापार, होटल, रेस्टोरेंट, परिवहन, भंडारण एवं संचार'; तथा 'निर्माण', जिसे अकसर औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा माना जाता है।

23. इस किस्म के सेवा क्षेत्र 'रोजगार' सेवा क्षेत्र की आय में भारी वृद्धि का स्रोत नहीं थे, यह आय इस क्षेत्र के ऊपरी तबके के पास जा रही थी।

10.

सिकुड़ता आधार

जैसा कि हमने पीछे देखा है, उत्पादन के मोर्चे पर भी औद्योगिक क्षेत्र एक स्थिर विकास दर सुनिश्चित करने में विफल रहा है। उद्योगों में रोजगार उस स्तर तक नहीं बढ़ पाए जहां औद्योगिक श्रमशक्ति स्वयं ही मांग का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन जाती है (यानी बाजार का एक बड़ा हिस्सा बन जाती है)। विलासितापूर्ण उत्पादों के क्षेत्र में आकर्षक वृद्धि के लिए औद्योगिक लाईसेंसिंग व्यवस्था के विखंडन जैसे कृत्रिम उत्प्रेरक भी इसीलिए ज्यादा समय तक असरदार नहीं रह सके। नब्बे के दशक के मध्य में केवल तीन साल ही ऐसे थे जब ठीक–ठाक विकास दर दर्ज की गई। जब विलासितापूर्ण उत्पादों की लंबे समय से दबी आ रही आकांक्षाओं से उत्पन्न हो रही मांग ठंडी पड़ने लगी तो अर्थव्यवस्था फिर मंदी के हालात में जा पहुंची। इसके बाद सरकार ने कई बार ब्याज दरों में कटौती का रास्ता भी अपनाया मगर इन फैसलों का सिर्फ इतना ही असर हुआ कि उद्योगों ने पुराने कर्जों की जगह कम ब्याज दर पर नए कर्जे ले लिए और ब्याज दर में कमी से जो मुनाफा हुआ उसे उत्पादन में लगाने की बजाय अपनी जेब में डाल लिया। इसके बाद 2003–04 में कृषि क्षेत्र में आंशिक सुधार का समय आया जिससे औद्योगिक उत्पादों की मांग को थोड़ा सा बल मिला।

इस बारे में सरकार चाहे कितने भी दावे करे कि भारत एक आधुनिक समाज बनता जा रहा है, यहां तक कि वह कथित उत्तर औद्योगिक अर्थव्यवस्था बनता जा रहा है – सच्चाई यही है कि भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार अभी भी कृषि क्षेत्र ही है। यह बात सिर्फ कृषि क्षेत्र से उद्योग जगत को मिलने वाले कच्चे माल की अवमूल्यित कीमतों से ही साबित नहीं होती। उद्योग जगत की उत्पादन वृद्धि दर अभी भी कृषि क्षेत्र के प्रदर्शन से पैदा होने वाली मांग से बंधी हुई है और यह बात पिछले चार दशकों पर उड़ती सी नजर डालने से ही पता चल जाती है। जब कृषि क्षेत्र की मौजूदा खस्ता हालत के बावजूद इस तरह की स्थिति है तो कल्पना की जा सकती है कि कृषि क्षेत्र को उसके बंधनों से आजाद कर देने

पर औद्योगिक मांग को किस हद तक बढ़ावा मिल सकता है। आज जमीन, ऋण व्यवस्था, और साजो–सामान पर नियंत्रण रखने वाले ग्रामीण वर्ग और सरकारी सत्ता से बंधी शक्तियां काश्तकारों से अधिशेष तो निचोड़ लेती हैं लेकिन इस अधिशेष को कृषि क्षेत्र की उत्पादक शक्तियों को विस्तार प्रदान करने के लिए निवेश नहीं करती। इसका मतलब है कि ये ताकतें कृषि क्षेत्र से अधिशेष खींचने वाले परजीवी बन गई हैं।

रोजगार निर्माण का सबसे बड़ा स्रोत आज भी कृषि क्षेत्र ही है। अल्प–रोजगार ही सही परंतु किसी न किसी रूप में अधिकांश श्रमिकों को कृषि क्षेत्र में आजीविका का साधन मिल ही जाता है। मगर इस स्थिति के नकारात्मक पहलू भी हैं : कृषि क्षेत्र में अल्प–रोजगारयुक्त श्रमिकों की फौज उद्योगपतियों को औद्योगिक वेतनों में कटौती का एक आसान जरिया मुहैया करा देती है। (पहला, औद्योगिक श्रमिकों को इसलिए कम वेतन दिया जाता है ताकि उनके परिवार को गांव में ही रोक कर रखा जा सके। वैसे भी कृषि क्षेत्र से जुड़े रहकर उन्हें थोड़ी–बहुत पूरक सहायता मिलती रहती है और नौकरी छूटने के बाद वह वापस अपने गांव में लौट सकते हैं। दूसरा, उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों को यूनियनों में संगठित होने और वेतन वृद्धि की मांग करने का पर्याप्त साहस नहीं मिल पाता क्योंकि कृषि क्षेत्र में अल्प–रोजगारयुक्त लोगों की विशाल संख्या कभी भी उनका स्थान ले सकती है।) और हमारी अर्थव्यवस्था में तो बेरोजगार/अल्प–रोजगारयुक्त श्रमिकों की फौज औद्योगिक श्रमिकों की फौज से भी ज्यादा बड़ी है।

कृषि क्षेत्र एक ऐसे सामाजिक तंत्र के रूप में भी काम करता है जो समाज में आने वाले उतार–चढ़ावों की मारक क्षमता को क्षीण कर देता है जिससे मेहनतकश तीखे वर्ग संघर्ष के लिए तैयार नहीं हो पाते। कहने की जरूरत नहीं कि काम छूट जाने पर इन श्रमिकों के पास जैसे–तैसे ही सही मगर पेट भरने के लिए गांव में लौट जाने का विकल्प तो खुला ही रहता है जिससे वह वर्ग संघर्ष का साहस नहीं जुटा सकते। कृषि क्षेत्र में मौजूद सामंती ताकतें और पिछड़ापन भी तमाम तरह के प्रतिक्रियावादी सांस्कृतिक प्रभावों और संरचनाओं को टिकाये रखने का साधन बन जाती हैं। जात–पात और सांप्रदायिकता जैसी व्यवस्थाएं इसी आधार पर फलती–फूलती हैं। ये संरचनाएं भी श्रमिकों को वर्गीय आधार पर संगठित होने से रोकती हैं। इस प्रकार, कृषि क्षेत्र हमारी अर्थव्यवस्था के मौजूदा विकास के लिए एक सुसंगत आर्थिक आधार मुहैया कराता है और शासक वर्गों के शासन को निरंतरता प्रदान करने के लिए एक सामाजिक आधार का काम करता है। परंतु इस क्षेत्र के पिछड़ेपन और ठहराव की छाया पूरी अर्थव्यवस्था पर भी पड़ती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था एवं समाज के इस आधार की शक्ल–सूरत दिन–ब–दिन बदरंग होती जा रही है।

निवेश में तीखी गिरावट

कृषि क्षेत्र में निवेश का स्तर पहले ही बहुत कम था और अब तो वह दयनीय स्तर तक

पहुंचता जा रहा है। खेती में सार्वजनिक निवेश, मौजूदा हालात में जमीन की उत्पादकता बढ़ाने में केंद्रीय भूमिका निभा सकता है। मगर पिछले दो दशक से यह निवेश लगातार गिरता जा रहा है। जीडीपी के अनुपात की नजर से देखें तो 1980–81 में यह 3.4 प्रतिशत था जो 2000–01 में केवल 1.3 प्रतिशत रह गया था। यह स्थिति एक ऐसे क्षेत्र की है जो जीडीपी में एक चौथाई योगदान देता है। यहां तक कि स्वयं कृषि क्षेत्र के जीडीपी के अनुपात के रूप में भी यह निवेश पिछले दो दशक में 8.5 प्रतिशत से गिरकर 6.1 प्रतिशत पर पहुंच गया है।[24] इसका मतलब है कि खेती में जो मूल्य संवर्धन हो रहा है उसका एक बहुत छोटा हिस्सा ही कृषि क्षेत्र में दोबारा निवेश हो रहा है।

गौरतलब है कि जैसे–जैसे खेती में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश कम हुआ है वैसे–वैसे खेती में निजी क्षेत्र निवेश का हिस्सा बढ़ता गया है। मगर दुख की बात यह है कि निजी निवेश में जो इजाफा हुआ है वह सार्वजनिक निवेश में आई गिरावट की भरपाई करने के लिए पर्याप्त नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि जीडीपी के हिस्से के रूप में निजी निवेश भी घट गया है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है क्योंकि निजी निवेश को भी सार्वजनिक क्षेत्र निवेश से ही बल मिलता है। खेती में लगभग 90 प्रतिशत सार्वजनिक निवेश बड़ी और मझौली सिंचाई सुविधाओं के रूप में रहा है। और जाहिर है कि सिंचाई व्यवस्था के फैलाव से किसान भी निजी स्तर पर निवेश करने को प्रेरित होते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें उपज और मुनाफे का भरोसा हो जाता है।

टेबल 18:
जीडीपी प्रतिशत के रूप में कृषि क्षेत्र में पूंजी निर्माण

	सार्वजनिक	निजी	कुल
1980–81	1.3	2.1	3.4
1990–91	0.6	1.6	2.2
1993–94	0.5	1.1	1.6
1996–97	0.4	1.1	1.5
1999–00	0.3	1.1	1.4
2000–01	0.3	1	1.3
2001–02	0.3	1	1.3

आर्थिक सर्वेक्षण, अलग–अलग वर्ष। 1980–81 के आंकड़े पुरानी श्रृंखला पर आधारित हैं (आधार वर्ष 1980–81); शेष वर्ष 1993–94 में लागू की गई श्रृंखला पर आधारित हैं।

इतना ही नहीं, सार्वजनिक क्षेत्र निवेश के अभाव में अब जिस किस्म का निजी निवेश किया जा रहा है उसके परिणाम खतरनाक भी हो सकते हैं : "निजी क्षेत्र में हो रहे पूंजी निर्माण का ज्यादातर हिस्सा पम्पसेट जैसी लघु सिंचाई सुविधाओं की दिशा में जा रहा है...। सिंचाई के लिए निजी क्षेत्र का पूंजी निर्माण सबसे ज्यादा कुओं की खुदाई में खर्च हो जाता है क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था में व्यक्ति को निजी पानी के इस्तेमाल की

सुविधा मिल जाती है जबकि नहर या प्राकृतिक स्रोतों से सिंचाई की ऐसी सुविधा नहीं मिल पाती। लेकिन, यहां इस बात को भी ध्यान में रखना जरूरी है कि इस तरह के उपकरण भूमिगत जल स्रोतों से पानी खींचते हैं जिसका प्रभाव संबंधित खेत की बजाय ज्यादा बड़े क्षेत्रफल पर पड़ता है। इसका मतलब है कि जिन किसानों के पास ज्यादा क्षमता वाले पम्पसेट हैं वह अपने खेत के ही नहीं बल्कि आसपास के खेतों के नीचे मौजूद जलराशि का भी दोहन कर लेते हैं और छोटे पम्पों के मुकाबले ज्यादा तेजी से इस काम को करते हैं। जाहिर है कि भूमिगत जल स्तर पर इस घटनाक्रम का नक़ारात्मक प्रभाव पड़ता है और छोटे व सीमांत किसानों को अपने खेतों की सिंचाई में ज्यादा मुश्किलें पेश आने लगती हैं।"[25] इसके कई निहितार्थ हैं : गैर–बराबरी में इजाफा होगा; उपभोग संबंधी फसलों की बजाय नकदी फसलों को ज्यादा अहमियत मिलने लगेगी; और संपन्न किसानों की उत्पादकता में भले ही इजाफा हो, कुल मिलाकर उत्पादकता में गिरावट ही आएगी।

नई प्रौद्योगिकी के फैलाव में धीमापन

हरित क्रांति से कई इलाकों की उपज नाटकीय रूप से बढ़ गई थी। यह हरित क्रांति मुख्य रूप से पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक ही सीमित थी। मगर इसी अवधि में देश के बाकी हिस्सों में कृषि उपज या तो यथावत रही या उसमें गिरावट आई। पूर्वी भारत के मामले में यह विषमता खासतौर से साफ दिखाई देती है। समुचित प्राकृतिक संसाधनों और परिस्थितियों के चलते वहां उपज में ज्यादा तेजी से इजाफा होना चाहिए था। मगर पिछड़े सामाजिक संबंधों, सिंचाई पर होने वाले सरकारी व्यय में कमी, कृषि विस्तार, कृषि अनुसंधान और ग्रामीण अवरचनागत सुविधाओं (बिजली, भंडारण, ग्रामीण सड़कें, आदि) के अभाव ने ऐसा नहीं होने दिया। बिहार में 1970–73 के दौरान प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन 155 किलोग्राम था जो 1990–93 के बीच केवल 121 किलोग्राम प्रति व्यक्ति रह गया। इसी तरह की गिरावट कई अन्य राज्यों में भी दर्ज की गई है।

नब्बे के दशक में देश के उत्तर पश्चिमी हरित क्रांति इलाकों में खाद्यान्न उत्पादन शिखर बिंदु तक पहुंच गया और यहां खेती एवं सिंचाई के आधुनिक तौर–तरीकों से बड़े पैमाने की पर्यावरणीय समस्याएं पैदा होने लगी हैं। अगर राज्य ने इन समस्याओं या आशंकाओं से निपटने के लिए तत्काल कदम नहीं उठाए तो इन क्षेत्रों में उत्पादन गिर भी सकता है। लेकिन, इस दशक के दौरान पूर्वी भारत में दो ऐसे घटनाक्रम रहे हैं जिन्होंने यहां उपज में तेज इजाफे की संभावनाओं का और गला घोंट दिया है। पहला, इस दौरान यहां सिंचाई सुविधाओं पर होने वाले सार्वजनिक निवेश में भारी कमी आई: 1997–2002 के बीच सिंचाई सुविधाओं के निर्माण से संबंधित लक्ष्य का आधा भी हासिल नहीं किया जा सका। राज्य सरकारों और केंद्र सरकार ने कृषि विस्तार सेवाओं को बंद कर दिया और कृषि क्षेत्र को बैंकों से मिलने वाले ऋण में कमी कर दी गई। दूसरा घटनाक्रम

यह था कि यद्यपि इस्तेमाल होने वाली चीजों की कीमतें बढ़ती जा रही थीं मगर किसानों को मिलने वाली फसल की कीमत उत्पादन से भी नीचे चली गई जिससे खेती के प्रति उनका उत्साह गिरने लगा। और अब तो शासकों ने खुले आम यह कहना शुरू कर दिया है कि हमारे देश में जरूरत से ज्यादा अनाज उत्पादन हो रहा है इसलिए उस पर अंकुश लगाया जाना चाहिए। सरकारी खरीद पर लगाम कसने के लिए खरीद मूल्यों में इजाफा रोक दिया गया है और गुणवत्ता का बहाना बनाकर बहुत सारे अनाज को खरीदने से इनकार किया जा रहा है। जब सामान्य रूप से अधिक खरीद वाले इलाकों में इस तरह की नीति अपनाई जाती है तो कम खरीद वाले इलाकों में कीमतें और गिर जाती हैं।

इन रुझानों के फलस्वरूप उच्च उपज वाले इलाकों में वृद्धि दर 8.1 प्रतिशत से गिरकर केवल 4.4 प्रतिशत रह गई और उर्वरकों के उपभोग की दर जो अस्सी के दशक में 7.8 प्रतिशत थी वह नब्बे के दशक में गिरकर केवल 4.3 प्रतिशत रह गई। हाल के सालों में तो उर्वरकों के उपभोग में और भी कमी आई है। इतना ही नहीं, पोटाश और फॉस्फेट आधारित उर्वरकों की कीमतों में हुए इजाफे से नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाशियम के बीच भी एक असंतुलन पैदा हुआ है। 1998–99 में इन तीनों रसायानों का अनुपात 8.5 : 3 : 1 था जबकि अपेक्षित अनुपात 4 : 2 : 1 माना जाता है। इसका मतलब है कि मिट्टी में पोषक तत्व तेजी से नष्ट होते जा रहे हैं जिससे उत्पादकता पर बुरा असर पड़ रहा है। दूसरी तरफ संपन्न किसान जिस तेजी से भूमिगत जलस्रोतों का दोहन कर रहे हैं उससे भी निकट भविष्य में और मुश्किल हालात पैदा होने की आशंका दिखाई देने लगी है।

उत्पादन में नाटकीय गिरावट

कृषि उत्पादन पर पड़ रहे प्रभावों को पहले ही नाटकीय रूप से दर्ज किया जा चुका है। उपज की दर में भारी गिरावट आई है। क्योंकि खाद्यान्नों के अंतर्गत आने वाला क्षेत्रफल तेजी से गिरता जा रहा है इसलिए अगर उपज वृद्धि दर जनसंख्या वृद्धि दर से कम (1.9 प्रतिशत वार्षिक) रहती है, जोकि वास्तविकता है, तो इसका मतलब है कि प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन गिरता जा रहा है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह उतार–चढ़ाव मौसम में आने वाले बदलावों का परिणाम नहीं है बल्कि यह पिछले दशक में कई साल के अच्छे मानसून के बावजूद है। खाद्य तिलहन, कपास, जूट और गन्ने जैसी नकदी गैर–अनाज फसलों के क्षेत्र में हालात और भी खराब हैं। इन फसलों की उत्पादकता नकारात्मक हो चुकी है यानी शून्य से भी नीचे जा चुकी है। अब इन वस्तुओं का उत्पादन यथास्तर बनाए रखने के लिए उनके क्षेत्रफल में लगातार इजाफा किया जा रहा है (नब्बे के दशक में गैर–अनाज फसलों के क्षेत्रफल में सालाना 1.2 प्रतिशत का इजाफा हुआ)। इन फसलों के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रफल में वृद्धि कर्जे उतारने के लिए लगातार नकदी की भारी जरूरत का परिणाम दिखाई देती है।

टेबल 19:
प्रति इकाई क्षेत्रफल की उपज वृद्धि दर (गतिशील पंचवर्षीय वृद्धि दर को उपज के संक. `तकों के तीन वर्षीय गतिशील औसत पर मापा गया है)

अनाज

1992–93	1993–94	1994–95	1995–96	1996–97	1997–98	1998–99	1999–00	2000–01	2001–02
3.39:	3.04:	2.57:	1.55:	1.80:	1.40:	1.47:	1.05:	1.29:	1.39:

गैर–अनाज फसलें

1992–93	1993–94	1994–95	1995–96	1996–97	1997–98	1998–99	1999–00	2000–01	2001–02
3.19:	2.44:	2.13:	1.44:	2.05:	1.54:	1.55:	0.44:	0.19:	–0.57:

स्रोत : दीर्घकालिक अनाज नीति समिति की रिपोर्ट।

1991 में जब नई आर्थिक नीति लागू की गई थी तभी से, और खासतौर से नब्बे के दशक के मध्य से कृषि क्षेत्र की हालत खराब होती जा रही है। अस्सी के दशक (1980–81 से 1989–90) में कृषि उत्पादन की औसत वृद्धि दर 5.2 प्रतिशत सालाना थी जो तथाकथित सुधारों की अवधि (1993–94 से 2002–03) में गिरकर केवल 0.4 प्रतिशत रह गई।[26] यह घटनाक्रम भी प्रति व्यक्ति उत्पादन में भारी गिरावट का संकेत है।

अगर कृषि उत्पादन में 1993–94 से 2002–03 के बीच भी अस्सी के दशक की तरह इजाफे का क्रम जारी रहता तो हमारा उत्पादन मौजूदा स्तर के मुकाबले कम से कम एक–तिहाई ज्यादा होता।

जमीन से बेदखली

कृषि उत्पादन में गिरावट के फलस्वरूप रोजगार वृद्धि दर में भी गिरावट आनी चाहिए थी। देश के कई हिस्सों में निरंतर बढ़ते मशीनरीकरण और कुछ खास फसलों की यांत्रिक खेती से श्रम की मांग में निश्चय ही और गिरावट आती। यहा गौर करने की बात यह है कि 1993–94 से 1999–2000 के बीच कृषि रोजगारों में वृद्धिदर वस्तुतः शून्य पर पहुंच गया।

इस घटनाक्रम के पीछे जमीन से बड़े पैमाने पर बेदखली का हाथ दिखाई देता है। इस्तेमाल होने वाली चीजों की कीमतें बढ़ती जा रही हैं, बैंकों से मिलने वाली ऋण सुविधाएं खत्म हो रही हैं और किसानों को मिलने वाली उपज की कीमत घटती जा रही है जिससे बहुत सारे किसानों के लिए अपनी जमीन पर कब्जा बनाए रखना मुश्किल होता जा रहा है। 1987–88 में ग्रामीण परिवारों के बीच भूमिहीन परिवारों की संख्या 35 प्रतिशत थी जो 1999–2000 में 41 प्रतिशत तक पहुंच गई। इसी अवधि में सीमांत जोत वाले परिवारों की संख्या भी 19 से बढ़कर 22 प्रतिशत हो गई। इस प्रकार, 1999–2000 तक आते–आते ग्रामीण परिवारों में भूमिहीन और सीमांत किसानों की संख्या 63 प्रतिशत तक पहुच गई जबकि 1987–88 में ऐसे परिवार केवल 55 प्रतिशत थे।

इस प्रक्रिया में महाजनों और सूदखोरों ने भी एक अहम भूमिका निभाई है। तमिलनाडु, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब में हजारों किसानों की आत्महत्या इसी तथ्य की पुष्टि करती है। कर्ज में दबे किसानों को निचोड़ने का सिल. सिला फसलों की बुआई से पहले ही शुरू हो जाता है। महाजन सामान्य से ज्यादा कीमतों पर उन्हें चीजें बेचता है; और इसके बावजूद किसानों की फसल कम कीमत पर खरीदता है। कर्ज में दबे किसानों को अकसर इस बात के लिए बाध्य किया जाता है कि वह अपनी उपज महाजन के अलावा और किसी को न बेचें। खेती में इस्तेमाल होने वाली चीजों की कीमतों को बढ़ाकर और उपज की कीमतों को कम करके तथा कर्जे और ब्याज के रूप में महाजन किसानों से जितनी वसूली कर लेते हैं उससे अंततः उत्पादन का ही सिलसिला बंद होने लगता है। क्योंकि किसानों को मिलने वाले ऋणों का एक बहुत बड़ा हिस्सा महाजनों से ही आता है और क्योंकि बैंकों से मिलने वाले थोड़े बहुत ऋण भी तेजी से खत्म होते जा रहे हैं इसलिए कृषि क्षेत्र में इस तरह की लूट बहुत बड़े पैमाने पर पहुंच चुकी है। इस तरह आखिरकार किसान अपनी जमीन पर कब्जा गंवा बैठता है जबकि यही उसकी रोजी–रोटी का एकमात्र साधन था।

इफलासज़दा दहकानों के हल–बैल बिके, खलिहान बिके,
जीने की तमन्ना के हाथों जीने ही के सब सामान बिके। (साहिर)

यहां इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि जमीन का यह संकेंद्रण एक ऐसे समय में हो रहा है जब उपज बढ़ नहीं रही है और प्रति व्यक्ति उत्पादन गिरता जा रहा है। बात यह नहीं है कि सारी जमीन एक अत्यंत गतिशील कृषि क्षेत्र में मौजूद ज्यादा कुशल उत्पादकों के हाथों में संकेंद्रित होती जा रही है बल्कि वास्तविकता यह है कि एक लुंज–पुंज कृषि क्षेत्र में उत्पादक काश्तकार विवश होकर जमीन पर कब्जा छोड़ रहे हैं और उनकी जमीन परजीवी, अनुत्पादक शक्तियों के हाथों में केंद्रित होती जा रही है।

यह पूरी प्रक्रिया इस लिहाज से परजीवी है कि ग्रामीण शोषक वर्ग काश्तकारों से जो वसूली करते हैं उसे न तो कृषि क्षेत्र में लगाया जाता है और न ही उद्योगों को तेजी से विस्तार प्रदान करने के लिए खर्च किया जाता है। यह सारा पैसा उल्टे–सीधे उपभोग, व्यापार व परिवहन जैसी अनुत्पादक गतिविधियों पर खर्च हो रहा है। इस पैसे का एक हिस्सा अधिकाधिक संसाधनों पर कब्जा करने के लिए सरकारी अफसरों की मुट्ठियां गर्म करने के भी काम आ रहा है। और इसी पैसे का एक हिस्सा छोटे किसानों को कर्ज देने और दिवालिया काश्तकारों की जमीन खरीदने पर भी खर्च किया जा रहा है।

असल में सिर्फ खेती ही नहीं बल्कि समूची अर्थव्यवस्था लुंज–पुंज/खस्ता हालत में है। कृषि क्षेत्र में रोजगारों से हाथ धो बैठने वाले काश्तकारों को कारखानों में भी काम नहीं मिल पाता और उन्हें थक कर सेवा क्षेत्र में किसी न किसी तरह के 'रोजगार' से संतोष

करना पड़ता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था की मौजूदा दुर्दशा – देश के लोगों और उसकी उत्पादक भविष्य की परिस्थितियां – हमें इस बात पर ध्यान देने को विवश करती हैं कि अगर देश के मौजूदा राजनीतिक अर्थशास्त्र को आमूल रूप से बदलना है तो उसमें निहित विपुल संभावनाओं को साकार करने के लिए हमें तत्काल कदम उठाने होंगे। अधिशेष की भयानक लूट और फलस्वरूप देश की उत्पादक संभावनाओं के साथ इस बलात्कार को केवल आंकड़ों के जरिए नहीं समझा जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधार से लेकर अधिरचना तक भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज का लोकतांत्रिक पुनर्गठन एक अत्यंत पीड़ाजनक प्रक्रिया होगी और जिन्हें वर्तमान व्यवस्था से फायदा हो रहा है वह इस तरह के बदलाव को रोकने की हर मुमकिन कोशिश भी करेंगे। मगर जिन लोगों के परिश्रम पर इस अर्थव्यवस्था की गगनचुंबी अट्टालिका खड़ी है वह हर रोज जो पीड़ा सह रहे हैं उसके मुकाबले उन बदलावों की पीड़ा निश्चय ही कम होगी।

टिप्पणियां :

24. रिपोर्ट ऑन करेंसी एंड फायनेंस 2001–02
25. वही
26. आरबीआई, वार्षिक रिपोर्ट 2002–03
27. जयति घोष, "व्हाई इज़ एग्रीकल्चरल एम्प्लॉयमेंट फॉलिंग?", 22/04/03 www.macroscan.org

परिशिष्ट १

बेरोजगारी का असली स्तर

बेरोजगारी सिर्फ एक इंसानी समस्या नहीं है। यह एक ऐसी समस्या नहीं है जो सिर्फ बेरोजगारों को पेश आती है। यह इस बात की अभिव्यक्ति है कि हमारी समाजिक व्यवस्था उत्पादन बढ़ाने के लिए अपने पास उपलब्ध तमाम संसाधनों का पूरा इस्तेमाल नहीं कर पा रही है। उत्पादन के तीन में से बाकी दोनों कारक – जमीन और पूंजी – निष्क्रिय होते हैं जबकि श्रम के पास पूंजी की रचना की क्षमता भी होती है। अगर किसी समाज को अपना उत्पादन अधिकतम संभव सीमा तक बढ़ाना है तो वह उत्पादन के किसी भी कारक की बर्बादी बर्दाश्त नहीं कर सकता। इस का मतलब है कि श्रमशक्ति ही नहीं बल्कि उत्पादन के सभी कारकों को सामाजिक रूप से सर्वाधिक उपादेय और अधिकतम स्तर तक इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

बीसवीं सदी की शुरुआत तक पूंजीवादी अर्थशास्त्री बेरोजगारी के सवाल पर ज्यादा परेशान नहीं होते थे। उनका सैद्धांतिक चौखटा इस आधार पर खड़ा था कि अर्थव्यवस्था में किसी भी वस्तु की आवश्यकता से अधिक आपूर्ति का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि उसकी कीमत को बाजार से निर्गम के लिए आवश्यक स्तर तक गिरने से रोका जा रहा है। यानी उस चीज को ऐसी कीमत पर बेचने से रोका जा रहा है जिस कीमत पर लोग उसे आसानी से खरीद सकते हैं। इस प्रकार ये अर्थशास्त्री बेरोजगारी को इस बात का परिणाम मानते थे कि वेतनों में अपेक्षित तेजी से गिरावट नहीं आ रही है। और वह इस समस्या के लिए ट्रेड यूनियनों को जिम्मेदार ठहराते थे। वह इस बात को लेकर पूरी तरह मुतमईन थे कि अगर वेतनों को गिरने से न रोका जाए तो पूंजीपतियों को ज्यादा से ज्यादा मजदूरों को काम पर रखने में कोई परेशानी नहीं होगी और वह तब तक ऐसा करते जाएंगे जब तक समाज के काम चाहने वाले सभी लोगों को रोजगार नहीं मिल जाएगा।[1]

मगर 1929 में शुरू हुई महामंदी ने इस अवधारणा के चितेरों को बहुत भारी चोट पहुंचाई। मंदी के कारण उत्पादन में कटौती होने लगी, निवेश ठप्प हो गया, मजदूरों की छंटनी होने लगी और वेतन तेजी से गिरने लगे। इसके बावजूद, पूंजीपति कम वेतन पर भी

मजदूरों को काम पर रखने को तैयार नहीं हो रहे थे। बल्कि वह तो उत्पादन में और कटौती करते जा रहे थे।

जॉन मेनार्ड कीन्स ने जिन सवालों को संबोधित किया उनमें बेरोजगारी एक महत्वपूर्ण समस्या थी। हालांकि वह बेरोजगारी को पूंजीवादी समाज के सीमित नजरिए से ही देखने की कोशिश कर रहे थे मगर उन्होंने इस नजरिए को भी सिरे से उलट–पुलट डाला। कीन्स ने कहा कि पूंजीपति तब तक लोगों को काम पर नहीं रखेंगे जब तक बाजार में उनके उत्पादों की पर्याप्त मांग नहीं होगी। बल्कि उन्होंने तो यहां तक कहा कि पर्याप्त मांग के अभाव में केवल श्रम ही नहीं बल्कि पूंजी और जमीन भी बेकार पड़ी रह सकती हैं। इस समस्या से निपटने के लिए उन्होंने सुझाव दिया कि ऐसे हालात में नए सिरे से चीजों की मांग पैदा करने के लिए जरूरी है राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए। हालांकि कीन्स कुल मिलाकर व्यवस्थापोषक अर्थशास्त्री थे और उनकी चिंताएं पूंजीवादी व्यवस्था की निरंतरता और उसके स्थायित्व के रास्ते निकालने पर ही केंद्रित थीं फिर भी इस बात को उनका एक महत्वपूर्ण योगदान माना जाएगा कि उन्होंने इस भ्रम को तोड़ दिया कि पूंजीवादी अर्थतंत्र स्थिर था या यह अर्थव्यवस्था स्वतःस्फूर्त पूर्ण–रोजगार के लक्ष्य को हासिल कर लेगी।

मगर पिछले तीन दशकों में कीन्स से पहले तक प्रचलित और प्रतिष्ठित सैद्धांतिक खाके को एक बार फिर लोकप्रियता मिली है। शासक प्रतिष्ठान के वेतनभोगी बुद्धिजीवियों के बीच यह समझ आजकल खासी प्रचलित है। दुनिया भर के शासक इस बात को ध्रुवसत्य की तरह स्थापित करने में लगे हुए हैं। इस समझ को न केवल औद्योगिक देशों में लागू किया जा रहा है बल्कि भारत जैसे देश भी इस सिद्धांत के पीछे दौड़ने लगे हैं जहां अभी भी बेरोजगार/अल्प रोजगारयुक्त लोगों की एक विशाल सेना मौजूद है। ऐसे हालात में, सामाजिक संरक्षण व मजदूर संगठनों की अनुपस्थिति के चलते "बाजार निर्गम" श्रम मूल्य आजीविका के लिए आवश्यक स्तर से भी नीचे तक जा सकते हैं।

नई आर्थिक नीतियों को शुरू हुए तकरीबन 13 साल हो चुके हैं। ये नीतियां संगठित श्रमशक्ति पर एक हमले का प्रतीक हैं। व्यवहार में स्थायी किस्म के कामों के लिए भी ठेका मजदूरी के इस्तेमाल या मजदूरों की छंटनी अथवा फैक्ट्रियों की तालाबंदी पर किसी तरह की रोक–टोक दिखाई नहीं देती है। स्थायी कामगारों की जगह ठेका मजदूर रखे जा रहे हैं जिन्हें स्थायी मजदूरों के मुकाबले केवल कुछ प्रतिशत वेतन देकर काम चलाया जा सकता है। मिसाल के तौर पर उत्पादन की लागत में वेतनों के घटते हिस्से और कुल लागतों में ठेका मजदूरी के बढ़ते हिस्से से भी कमोबेश यही बात साबित होती है। दिसंबर 2003 में सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकॉनॉमी (सीएमआईई) द्वारा कराए गए एक अध्ययन से पता चला कि भारतीय कंपनियों की कुल लागतों में वेतन का हिस्सा 1991–92 में 6.1 प्रतिशत था जो 2002–03 में केवल 4.4 प्रतिशत रह गया जबकि इसी दौरान तैयार वस्तुओं (कई जगह अन्य इकाइयों में ठेके पर बनवाई गई वस्तुएं) की

खरीद पर खर्च होने वाली राशि का हिस्सा 13 प्रतिशत से बढ़कर 20 प्रतिशत हो गया।

देश के अधिकृत रोजगार आंकड़ों पर विचार करते हुए हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अधिकृत परिभाषा के अनुसार किसी व्यक्ति को तभी रोजगारशुदा मान लिया जाता है जब वह संबंधित अवधि के दौरान किसी भी तरह की "लाभदायक गतिविधियों" में संलग्न रहा हो। इस परिभाषा के फलस्वरूप घरेलू कामों या अपराधों के अलावा तकरीबन सभी तरह के काम कमोबेश लाभदायक गतिविधि मान लिए जाते हैं। उपरोक्त परिभाषा का इस बात से कोई मतलब नहीं है कि उस गतिविधि से व्यक्ति को अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए भी पर्याप्त आय (लाभ) अर्जित हो पा रही है या नहीं। हो सकता है कोई व्यक्ति मूंगफली की रेहड़ी लगाता हो मगर उसे इतनी भी आमदनी न हो पा रही हो कि वह चैन से दो वक्त पेट भर कर खा सके; हो सकता है घर पर रहकर काम करने वाला बीड़ी मजदूर पूरे दिन में सिर्फ दस या पंद्रह रुपए कमा पा रहा हो; या हो सकता है कोई सीमांत किसान सिर्फ खेती के लिए नहीं बल्कि अपना पेट भरने के लिए कर्ज लेने पर विवश हो गया हो। इसके बावजूद संबंधित अवधि के अधिकांश भाग में "लाभदायक गतिविधियों" में संलग्नता मात्र ही उस व्यक्ति को "रोजगारशुदा" साबित करने के लिए काफी है।

यह समझ कुछ अजीबोगरीब नतीजों को जन्म देती है। सहज ज्ञान की कसौटी पर कस कर देखा जाए तो नौकरी का मतलब है कि उससे व्यक्ति का 'गुजारा' चल पा रहा हो और संबंधित नौकरीशुदा व्यक्ति 'गरीब' न हो। कहने का मतलब यह है कि अगर कोई व्यक्ति अपने काम से अपना पेट पालने की स्थिति में नहीं है तो उसके काम को रोजगार नहीं कहा जा सकता। इस का अर्थ है कि अगर 1999–2000 में आबादी का 26 प्रतिशत हिस्सा गरीब था (योजना आयोग द्वारा उपलब्ध कराए गए गरीबी के बेहूदा हद तक सीमित अनुमानों के आधार पर) तो श्रमशक्ति के भी इतने ही प्रतिशत हिस्से को बेरोजगार मानने में कोई हर्ज नहीं है। मगर योजना आयोग का मानना है कि उस साल श्रमशक्ति का केवल 7.3 प्रतिशत भाग ही बेरोजगार था। जाहिर है कि अगर सरकारी मानदंडों से चलें तो व्यक्ति रोजगार में होते हुए भी गरीब हो सकता है यानी काम करते हुए भी अपनी न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने में विफल हो सकता है। इस तथ्य से हमें अच्छी तरह अंदाजा लग जाता है कि जिसे अधिकृत आंकड़ों में 'रोजगार' बताया जा रहा है वह असल में क्या है।

भारत जैसे देशों में लोगों को जो भी काम मिलता है वह कर लेते हैं। उनके पास इस बारे में सोचने का विकल्प नहीं होता कि इससे उन्हें जो वेतन या आय मिलेगी उससे वह अपना पेट पाल सकेंगे या नहीं। जाहिर है उनके पास कोई विकल्प ही नहीं होता। जिन्हें रोजगार नहीं मिल पाया उनके लिए बेरोजगारी बीमे की भी हमारे यहां कोई व्यवस्था नहीं है। जिन्हें 'रोजगारशुदा' माना जाता है उनमें से महज 8 प्रतिशत ही ऐसे हैं जो संगठित क्षेत्र में काम करते हैं। बाकी लोग असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं जहां

आमतौर पर न्यूनतम वेतन जैसे प्रावधानों का भी कोई मतलब नहीं होता। इसका मतलब है कि हमारे देश में रोजगार संबंधी आंकड़ों की उस तरह से व्याख्या नहीं की जा सकती जिस तरह से उनकी व्याख्या औद्योगिक देशों में की जाती है।

इसके बावजूद, आइए देखते हैं कि अधिकृत आंकड़ों से हमें क्या जानकारी मिलती है।

रोजगार वृद्धि दर में तीखी गिरावट

जैसा कि सुविदित है, संगठित क्षेत्र रोजगारों की वृद्धि दर 1991 के बाद से ही दयनीय रही है। 1991 से 2001 के बीच, यानी पूरे दशक में संगठित क्षेत्र रोजगारों में 4 प्रतिशत का भी इजाफा नहीं हो पाया। इसी तथ्य का एक और पहलू यह है कि इस वृद्धि दर में भी 1997 से 2001 के बीच हर साल गिरावट दर्ज की गई (देखें टेबल 1 एवं चार्ट 2)। यह गिरावट लगातार जारी है। योजना आयोग के एक सदस्य के मुताबिक उद्योगों में अकेले 2003 के दौरान 10 लाख से ज्यादा नौकरियां खत्म हुई हैं।[2]

टेबल 1:
संगठित क्षेत्र रोजगारों में वार्षिक इजाफा (मिलियन नौकरियां)

1981–82	0.93
1982–83	0.33
1983–84	0.44
1984–85	0.43
1985–86	0.04
1986–87	0.58
1987–88	0.08
1988–89	0.25
1989–90	0.39
1990–91	0.39
1991–92	0.32
1992–93	0.12
1993–94	0.2
1994–95	0.15
1995–96	0.41
1996–97	0.31
1997–98	–0.08
1998–99	–0.06
1999–00	–0.15
2000–01	–0.17

हमारे यहां रोजगारों में संगठित क्षेत्र का हिस्सा हमेशा से ही बहुत छोटा रहा है। इसका मतलब है कि रोजगार और बेरोजगारी से संबंधित अधिकृत आंकड़ों पर विचार

करने के लिए हमें 1983, 1993–94 और 1999–2000 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षणों पर भी विचार कर लेना चाहिए।[3] इन आंकड़ों के मुताबिक 1983 में बेरोजगारी 8.3 प्रतिशत थी जो 1993–94 में गिरकर 6 प्रतिशत रह गई और 1999–2000 में एक बार फिर बढ़कर 7.3 प्रतिशत तक जा पहुंची।

टेबल 2 : रोजगार और बेरोजगारी

	मिलियन व्यक्ति वर्ष			प्रति वर्ष वृद्धि (:)	
	1983	1993–94	1999–00	1983 से 1993–94	1993–94 से 1999–00
आबादी	718.2	894.0	1004.0	2.00	1.95
श्रमशक्ति	261.3	336.0	363.3	2.43	1.31
रोजगारशुदा श्रमिक	239.6	315.8	336.8	2.70	1.07
बेरोजगारी दर (:)	(8.30)	(5.99)	(7.32)		
बेरोजगारों की संख्या	21.8	20.1	26.6	–0.08	4.74

स्रोत : योजना आयोग; आर्थिक सर्वेक्षण 2002–03. राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, चालू दैनिक स्थिति आधार पर।

इन आंकड़ों से ऐसा लगता है कि नब्बे के दशक के उत्तरार्द्ध में बेरोजगारी और बढ़ी है। 1983 से 1993–94 के दौरान रोजगार वृद्धि दर 2.7 प्रतिशत प्रति वर्ष थी जो 1993–94 से 1999–2000 के बीच तेजी से गिरकर केवल 1.7 प्रतिशत वार्षिक रह गई। नई नौकरियों की संख्या पहले वाली अवधि में 76 लाख प्रतिवर्ष थी जो बाद वाली अवधि में केवल 35 लाख प्रतिवर्ष रह गई।

"हतोत्साहित श्रमिकों" की संख्या में तेज इजाफा बेरोजगारी के स्तर को छिपा देता है

मगर ये आंकड़े भी समस्या की गहराई को छिपा देते हैं। इस बिंदु पर अधिकृत परिभाषा के बारे में कुछ व्याख्याएं आवश्यक हैं। "श्रमशक्ति" का आशय ऐसे लोगों की संख्या से है जो या तो रोजगारशुदा हैं या काम ढूंढ रहे हैं। इसके बाद "वर्कफोर्स" का आशय उन लोगों से है जो वस्तुतः रोजगार पा चुके हैं यानी रोजगारशुदा हैं। "बेरोजगारों" की संख्या श्रमशक्ति और रोजगारशुदा श्रमिकों के बीच फर्क का परिणाम है। "बेरोजगारी दर" का आशय यह है कि श्रमशक्ति में कितने प्रतिशत लोग बेरोजगार हैं।

"श्रमशक्ति", यानी रोजगारशुदा तथा रोजगार की तलाश कर रहे अन्य व्यक्ति – (घटा) "रोजगारशुदा श्रमिकों की संख्या" = "बेरोजगार"

"बेरोजगार" ÷ "श्रमशक्ति" = "बेरोजगारी की दर"

आइए अब थोड़ा खुलकर बात करें। रोजगारशुदा व्यक्तियों की किसी भी निश्चित संख्या से अगर आप किसी तरह ये पता लगा लें कि काम की तलाश कर रहे व्यक्तियों की

संख्या कितनी है तो आपके पास अधिकृत रूप से रोजगारशुदा व्यक्तियों की एक तुलनात्मक रूप से छोटी संख्या आ जाएगी और बेरोजगारी दर गिर जाएगी। उदाहरण के लिए, यदि आपके पास 100 श्रमिक हैं और उनमें से 80 रोजगारशुदा हैं तो इसका मतलब है कि 20 व्यक्ति बेरोजगार हैं। ऐसी सूरत में बेरोजगारी की दर 20 प्रतिशत मानी जाएगी। परंतु यदि, नौकरियों की संख्या बढ़ाए बिना, आप श्रमशक्ति के अधिकृत आंकड़े को किसी तरह घटाकर 90 पर ले आएं तो केवल 10 व्यक्तियों को ही बेरोजगार माना जाएगा और ऐसी स्थिति में बेरोजगारी की दर केवल 11.1 प्रतिशत (10/90) मानी जाएगी।

नब्बे के दशक में कमोबेश यही हुआ है। चारों तरफ नजर डालने पर हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते हैं कि अगर कामकाजी उम्र वाले लोगों की संख्या बढ़ रही है तो श्रमशक्ति की वृद्धि दर भी ऐसे लोगों की संख्या की वृद्धि दर से बहुत पीछे नहीं रहनी चाहिए। 1983 से 1993–94 के बीच कामकाजी उम्र के लोगों की आबादी सालाना 3 प्रतिशत से भी ज्यादा तेजी से बढ़ी है जबकि श्रमशक्ति की वृद्धि दर केवल 2.43 प्रतिशत सालाना दर्ज की गई है। हालांकि दोनों दरों में फर्क तो था मगर उनमें जमीन–आसमान का फासला नहीं था। लेकिन 1993–94 से 1999–2000 के बीच स्थिति नाटकीय रूप से बदल गई। इस दौरान कामकाजी उम्र के लोगों की आबादी तो तकरीबन 2.8 प्रतिशत सालाना की दर से बढ़ती रही मगर श्रमशक्ति की वृद्धि दर केवल 1.31 प्रतिशत रह गई। दोनों दरों में यह फासला इस दौरान बहुत तीखा हो गया था। यानी, सरकार हमें इस बात का यकीन दिलाने की कोशिश कर रही थी कि रोजगार के बाजार में नवागंतुकों की संख्या पहले वाली अवधि के 75 लाख सालाना से गिरकर बाद वाली अवधि में केवल 46 लाख सालाना रह गई थी!

काम की तलाश में निकलने वाले लोगों की संख्या में इतनी भारी गिरावट की वजह क्या हो सकती है जबकि कामकाजी उम्र के लोगों की आबादी तेजी से बढ़ती जा रही थी? स्कूल में पहले से अधिक बच्चों का दाखिला श्रमशक्ति को निश्चित रूप से कम कर देता है। मगर इससे तो केवल आंशिक फासले को ही समझा जा सकता है। इस गिरावट का सबसे बड़ा कारण यह है कि बहुत सारे मजदूरों ने काम की तलाश ही छोड़ दी है क्योंकि उन्हें लंबे समय से कोई काम नहीं मिल पा रहा था। फलस्वरूप ऐसे लोग कथित "हतोत्साहित श्रमिकों" के अंधकूप में चले गए थे।

आइए इस बात का हिसाब लगाएं कि अगर श्रमशक्ति में इजाफे की दर दूसरी अवधि में भी पहले की तरह यथावत बनी रहती तो आज बेरोजगारी की दर क्या होती। ऐसी सूरत में 1999–2000 तक श्रमशक्ति 36.3 करोड़ की बजाय 38.8 करोड़ हो चुकी होती। इस स्थिति में बेरोजगारों की संख्या योजना आयोग के बताए अनुसार 2.66 करोड़ नहीं बल्कि 5.1 करोड़ होती और बेरोजगारी की दर 7.3 प्रतिशत की बजाय 13.2 प्रतिशत तक पहुंच जाती। यानी तकरीबन दो गुना।

रोजगार लचीलेपन में तीखी गिरावट–बेरोजगारी में तेज इजाफे को जन्म देती है।

योजना आयोग ने उपरोक्त तीनों सर्वेक्षणों के बीच की अवधियों में विकास के रोजगार लचीलेपन की भी गणना की है। "रोजगार लचीलेपन" का मतलब इस बात से होता है कि जीडीपी में 1 प्रतिशत वृद्धि के मुकाबले रोजगारों में कितने प्रतिशत इजाफा हुआ है। मिसाल के तौर पर, अगर जीडीपी में 1 प्रतिशत इजाफे के फलस्वरूप रोजगारों में भी 1 प्रतिशत इजाफा हुआ है तो रोजगार लचीलापन 1 माना जाएगा। लेकिन अगर जीडीपी में 1 प्रतिशत की वृद्धि से केवल 0.1 प्रतिशत रोजगारों का इजाफा होता है तो रोजगार लचीलापन केवल 0.1 प्रतिशत रह जाएगा। यह आंकड़ा हमें बताता है कि रोजगार संवर्धन के क्षेत्र में किस तरह का विकास हो रहा है।

पहली अवधि (1983 से 1993–94) में रोजगार लचीलापन 0.52 प्रतिशत था। इसका मतलब है कि जीडीपी वृद्धि दर 5.2 प्रतिशत सालाना थी और रोजगारों में इजाफा उसकी आधी दर से हो रहा था। मगर दूसरी अवधि (1993–94 से 1999–2000) में रोजगार लचीलापन तेजी से गिरकर केवल 0.16 प्रतिशत रह गया। इसका मतलब यह हुआ कि हालांकि इस दौरान जीडीपी वृद्धि दर 6.7 प्रतिशत यानी पहले वाली अवधि के मुकाबले ज्यादा रही मगर रोजगार वृद्धि दर जीडीपी के छठे हिस्से से भी कम दर से बढ़ी।

टेबल 3:
रोजगार, सालाना रोजगार वृद्धि, और रोजगार लचीलापन

रोजगार (मिलियन में)	रोजगार वृद्धि	बेरोजगारी दर		रोजगार लचीलापन	जीडीपी वृद्धि दर (% वार्षिक)
1999–00	1993–94 से 1999–00 (% वार्षिक)	1999–00 (%)	1993–94 (%)	1993–94 से 1999–00 (% वार्षिक)	1993–94 से 1999–00 (% वार्षिक)
336.73	1.07	7.32	5.99	0.16	6.7

स्रोत : योजना आयोग; आर्थिक सर्वेक्षण 2002–03

अब योजना आयोग का दावा है कि श्रमशक्ति वृद्धि दर केवल 1.31 प्रतिशत वार्षिक रह गई है। अगर फिलहाल इस निष्कर्ष पर आपत्ति न भी उठाएं तो यह आश्चर्यजनक तथ्य अपनी जगह रह जाता है कि श्रमशक्ति में हो रहे इस सीमित इजाफे को भी खपाने के लिए हमें जितने नए रोजगार चाहिए उनका इंतजाम करने के लिए भी हमारी जीडीपी वृद्धि दर 8.2 प्रतिशत वार्षिक जरूर होनी चाहिए। शायद यही वजह है कि सरकार 8 प्रतिशत की वृद्धि दर हासिल करने का सपना देखती रहती है।

क्या आने वाले सालों में इस तरह की वृद्धि दर मुमकिन दिखाई देती है? जी नहीं। जीडीपी वृद्धि दर 1988–89 के एक साल को छोड़कर कभी भी इस स्तर पर नहीं पहुंच पाई। 1988–89 में भी यह वृद्धि दर केवल इसलिए संभव हुई थी क्योंकि उससे पहले साल बड़े पैमाने पर सूखा पड़ा था और वृद्धि दर की गणना एक संकुचित आधार पर

की जा रही थी। नब्बे के दशक में केवल दो साल – 1994–95 और 1995–96 – ही ऐसे थे जब जीडीपी वृद्धि दर नवागंतुक बेरोजगारों को काम देने के लिए अपेक्षित स्तर के आसपास तक पहुंच पाई। इसके बाद वृद्धि दर एक बार फिर ठहराव का शिकार हो गई (देखें टेबल 4)। 1992–93 से 2002–03 के बीच सालाना वार्षिक वृद्धि दर 5.9 प्रतिशत थी जबकि इस अवधि के अंतिम 6 वर्षों में यह केवल 5.3 प्रतिशत रही।

टेबल 4:
जीडीपी वृद्धि दर (कारक लागत पर)

पिछले तीन साल का औसत		
1991–92	1.3	
1992–93	5.1	
1993–94	5.9	4.1
1994–95	7.3	6.1
1995–96	7.3	6.8
1996–97	7.8	7.5
1997–98	4.8	6.6
1998–99	6.5	6.4
1999–00	6.1	5.8
2000–01	4.4	5.7
2001–02	5.6	5.4
2002–03	4.3	4.8

चालू वर्ष 2003–04 के लिए जीडीपी वृद्धि दर के बारे में कुछ आशावादी अनुमान लगाए गए हैं। इस साल संभावित वृद्धि दर 8 प्रतिशत रहने का दावा किया जा रहा है मगर परेशानी यह है कि इस वृद्धि दर के आधार पर भी केवल नवागंतुक बेरोजगारों को ही काम मिल पाएगा और जो पहले से बाजार में मौजूद हैं वह फिर खाली हाथ रह जाएंगे।[4] इसका मतलब है कि अगर हम सिर्फ सरकारी गणनाओं के हिसाब से ही चलें तो भी 2003–04 के अंत तक हमारे पास 3.4 करोड़ बेरोजगार मौजूद होंगे और बेरोजगारी की दर 7.3 प्रतिशत से बढ़कर 8.8 प्रतिशत तक पहुंच जाएगी। इन बकाया बेरोजगारों में हर साल और बेरोजगार शामिल होते जाएंगे, सो अलग।[5]

अगर हम बिल्कुल तर्कसंगत आधार पर यह मान लें कि श्रमशक्ति की वृद्धि दर 1993–94 के बाद भी 2.43 प्रतिशत वार्षिक की पहले वाली वृद्धि दर से ही बढ़ती रही होगी तो तस्वीर और बदरंग हो जाती है। ऐसी सूरत में,[6] 2003–04 के अंत तक हमारी श्रमशक्ति बढ़कर 42.7 करोड़ तक और रोजगारों की संख्या 34.9 करोड़ तक ही पहुंच पाएगी जिसका मतलब है कि बेरोजगारों की संख्या 7.8 करोड़ पर पहुंच जाएगी। ऐसे में बेरोजगारी दर मात्र चार सालों की अवधि में 13.2 प्रतिशत से बढ़कर 18.3 प्रतिशत तक पहुंच जानी चाहिए।

इतना ही नहीं, श्रम बाजार में हर साल आने वाले नवागंतुकों को ही रोजगार देने के लिए जीडीपी वृद्धि दर 15.2 प्रतिशत वार्षिक की नामुमकिन रफ्तार तक बढ़ानी होगी।

यह सब कुछ केवल अधिकृत आंकड़ों और पद्धतियों के आधार पर कहा जा रहा है, सिवाय इसके कि हमने सरकारी आंकड़ों में यह एक तर्कसंगत सुधार कर लिया है कि श्रमशक्ति में पहले वाली वृद्धि दर से ही इजाफा हो रहा होगा।

कामकाजी उम्र की तकरीबन आधी आबादी के पास कोई रोजगार नहीं है

इन गणनाओं में हमें दो महत्वपूर्ण तथ्यों को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए।

पहला, "श्रमशक्ति" की अधिकृत परिभाषा में बहुत सारे ऐसे लोगों को बाहर कर दिया गया है जो काम कर सकते थे बशर्ते उन्हें काम की कोई उम्मीद दिखाई देती। कामकाजी उम्र के लोगों की कुल संख्या अधिकृत रूप से परिभाषित श्रमशक्ति के मुकाबले बहुत अधिक है। सन् 2000 में जब रोजगारों की संख्या 33.7 करोड़ थी और श्रमशक्ति का अधिकृत आंकड़ा 36.3 करोड़ था, उस वक्त हमारे कामकाजी उम्र के लोगों की संख्या 57.8 करोड़ थी। मार्च 2004 तक, जब रोजगारों की संख्या 34.9 करोड़ तक पहुंच चुकी होगी, कामकाजी उम्र के लोगों की संख्या 66.2 करोड़ के अंक को छू जाएगी।[7] इसका मतलब है कि 31.3 करोड़ या कामकाजी उम्र के तकरीबन आधे लोग सिर्फ इसलिए किसी 'लाभदायक गतिविधि' में संलग्न नहीं हैं क्योंकि मौजूदा अर्थव्यवस्था और नीतियां उन्हें इस बात की इजाजत नहीं देती।[8]

यहां यह तर्क दिया जा सकता है कि कामकाजी उम्र के लोगों में रोजगारविहीन लोगों की यह विशाल संख्या घरेलू श्रम, जिसे रोजगार नहीं माना जाता है, की वजह से है जो महिलाओं के हिस्से आता है और जो फलस्वरूप "रोजगार पाने के लिए" स्वतंत्र नहीं है। मगर यह भी सच है कि जिन महिलाओं को रोजगारशुदा व्यक्तियों में गिना जा रहा है वह भी घरेलू श्रम के बोझ से आजाद नहीं हैं फिर चाहे वह खेती में हों, उद्योगों में हों या सेवा क्षेत्र में काम करती हों। इतना ही नहीं, महिलाओं के वेतनभोगी 'रोजगारों' में बहुत सारे ऐसे काम भी हैं जो घर पर रहकर ही किए जाते हैं। इनमें बीड़ी बनाना, पापड़/अचार/मसाले बनाना, पटाखे/माचिस/अगरबत्ती बनाना, बटन टांकना, फीते बनाना, तैयार कपड़ों की जांच करना, मालाएं बनाना, खिलौने बनाना या औषध एवं उपभोक्ता उत्पादों के लिए छोटे–छोटे डिब्बे बनाने जैसे बहुत सारे काम आ जाते हैं। इसका मतलब है कि महिलाओं का घरेलू श्रम चाहे कितना भी बोझिल क्यों न हो, वह भी उन्हें 'लाभदायक गतिविधियों' में संलग्न होने से नहीं रोक सकता। असल में महिलाओं के रोजगार के रास्ते में असली रुकावट यही है कि उनके पास ऐसा कोई अवसर ही नहीं है।[9]

बहरहाल, किसी भी लिहाज से कामकाजी उम्र की आबादी और श्रमशक्ति के बीच

फासला सिर्फ महिलाओं की वजह से नहीं है। कामकाजी उम्र के तकरीबन 10 करोड़ पुरुष भी किसी भी तरह के काम से वंचित हैं।[10] यह एक बहुत बड़ी संख्या है। कामकाजी उम्र की आबादी में सालाना इजाफा तकरीबन 1.8 करोड़ के आसपास है जबकि रोजगारों में वार्षिक इजाफा 40 लाख से भी कम है।

दूसरी बात यह है कि जिन लोगों को 'रोजगारशुदा' माना जा रहा है – यानी जिन लोगों को 'लाभदायक गतिविधियों' में संलग्न बताया जा रहा है – उनमें से बहुत सारे ऐसे हैं जो अपना पेट भरने लायक आय भी अर्जित नहीं कर पा रहे हैं। इनमें से बहुत सारे स्वरोजगारयुक्त हैं जो सीमांत किसानों या छोटे–मोटे दुकानदारों के तौर पर काम करते हैं। बहरहाल, उन्हें अपने श्रम से चाहे कितनी भी कम आय क्यों न होती हो, वह उसी काम को करते रहते हैं क्योंकि उनके पास कोई और विकल्प नहीं है। ऐसे लोगों को अल्प रोजगारयुक्त मान लेने में कोई हर्ज नहीं है। ऐसे लोगों की संख्या का पता लगाना कठिन तो है मगर उनकी संख्या बहुत बड़ी होगी इसमें कोई संदेह नहीं है। (वैसे भी, जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है, रोजगारशुदा व्यक्तियों में से भी केवल 8 प्रतिशत ही हैं जो संगठित क्षेत्र में काम कर रहे हैं।)

अब आप खुद देख सकते हैं कि हमारे देख में बेरोजगारी की समस्या कितनी भयानक है। नई आर्थिक नीतियों के आने से पहले भी बेरोजगारी भयानक स्तर पर पहुंच चुकी थी मगर अब तो उसमें दिन–दुनी, रात–चौगुनी तेजी से इजाफा हो रहा है। 'श्रम लचीलेपन' में इजाफे और औसत वेतन में गिरावट की वजह से रोजगारों में इजाफे की बजाय इस अवधि में रोजगार वृद्धि दर तेजी से नीचे आई है। यहां तक कि प्रत्यक्षतः भारी–भरकम रोजगार वृद्धि वाला क्षेत्र, यथा सेवा क्षेत्र, भी असल में अल्प रोजगार या प्रच्छन्न बेरोजगारी वाला क्षेत्र ही बनकर रह गया है।

कृषि संकट : रोजगारों में गिरावट का प्रधान कारण

समग्र रोजगारों में इस गिरावट का एक बड़ा कारण यह है कि खेतिहर रोजगारों की वृद्धि दर शून्य पर पहुंच गई है (1993–94 से 1999–2000 के बीच चालू दैनिक स्थिति के हिसाब से 0.02 प्रतिशत वार्षिक)। कृषि क्षेत्र अभी भी देश का सबसे बड़ा रोजगारदाता क्षेत्र है। 1993–94 में 60.4 प्रतिशत रोजगार और 1999–2000 में 56.7 प्रतिशत रोजगार इसी क्षेत्र में थे। अब तक यह क्षेत्र बहुत सारे लोगों को अल्प–रोजगार भी मुहैया कराता था। आने वाले सालों में उसकी यह क्षमता निरंतर गिरती जाएगी।

हालांकि इस बदलाव के पीछे आंशिक रूप से मशीनीकरण का भी हाथ है मगर **खेतिहर रोजगारों में इजाफा न होने के पीछे मुख्य कारण जमीन का बढ़ता संकेंद्रण हैं जो मोटे तौर पर मौजूदा आर्थिक नीतियों का परिणाम है।** जैसे–जैसे कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश घटता जा रहा है, इस्तेमाल होने वाली चीजों की लागतों में

इजाफा हो रहा है, बैंकों से मिलने वाले कर्ज की मात्रा घटती जा रही है, घरेलू फसलें सस्ते आयतित उत्पादों की मार झेल रही हैं और जैसे–जैसे मूल्य समर्थन योजनाओं को सीमित या बंद किया जा रहा है, वैसे–वैसे अधिकाधिक काश्तकार अपनी जमीन से वंचित होते जा रहे हैं। 1987–88 में कुल ग्रामीण परिवारों में भूमिहीन परिवारों की संख्या 35 प्रतिशत थी जो 1999–2000 में बढ़कर 41 प्रतिशत हो गई। क्योंकि छोटी जोत में परिवार के सदस्यों के श्रम का ज्यादा सघन इस्तेमाल हो पाता है इसलिए जब किसान अपनी जमीन से हाथ धो बैठता है तो कई लोगों का रोजगार छिन जाता है और फलस्वरूप रोजगारों में गिरावट आ जाती है। सीमांत जोत, जो अव्यावहारिक हैं और फलस्वरूप ज्यादा रोजगार उपलब्ध नहीं करा पातीं, वाले परिवारों की संख्या 19 प्रतिशत से बढ़कर 22 प्रतिशत तक पहुंच गई है जिसका मतलब है कि भूमिहीन और सीमांत परिवारों की संख्या 1999–2000 में 63 प्रतिशत थी जबकि 1987–88 में यह संख्या 55 प्रतिशत हुआ करती थी।[11]

जैसा कि आयामों के इस मुद्दे/अंक में अन्यत्र चर्चा की गई है, जमीन का यह बढ़ता संकेंद्रण एक ऐसे समय पर हो रहा है जब उपज ठहराव का शिकार हो गई है और उत्पादन जनसंख्या वृद्धि दर के मुकाबले कम रफ्तार से बढ़ रहा है। **यह घटनाक्रम किसी तेजी से फलते–फूलते कृषि क्षेत्र में सक्रिय अत्यंत गतिशील वर्ग की कोशिशों का परिणाम नहीं है बल्कि यह एक संकटग्रस्त, पंगु कृषि व्यवस्था में परजीवी वर्गों के बोझ का परिणाम है।** अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में उचित रोजगार अवसर उपलब्ध न होने के कारण साधारण किसान बड़े भूस्वामियों या महाजनों या व्यापारियों के सामने लाचार हो जाता है और वह उसकी इस लाचारी का फायदा उठाकर उसकी जमीन हड़प लेते हैं।

नब्बे के दशक में ही राज्य सरकारों ने भी अपने ग्रामीण अवरचनागत विकास कार्यक्रमों और कल्याण कार्यक्रमों में कटौती करना शुरू किया। नब्बे के दशक में ग्रामीण गैर–कृषि रोजगार वृद्धि दर सत्तर और अस्सी के दशकों की वृद्धि दर के मुकाबले आधे से भी कम रही है।

औद्योगिक रोजगारों की बेरंग तस्वीर

जिन लोगों को खेती में काम नहीं मिला क्या कारखानों ने उन्हें रोजगार दिया है? यह उम्मीद हकीकत से कोसों दूर है। अगर खेतिहर रोजगार पिछली अवधि की तरह ही बढ़ते रहते तो 1993–94 से 1999–2000 के बीच कृषि क्षेत्र में 2.7 करोड़ अतिरिक्त रोजगार पैदा हो जाते। मगर इसके विपरीत हम देखते हैं कि वहां तो पहले से काम कर रहे लोगों के लिए ही हालात मुश्किल होते जा रहे हैं। इस अवधि में उद्योग जगत में नौकरियों की संख्या में 92 लाख का इजाफा तो हुआ है मगर यह इजाफा भी कृषि क्षेत्र से निकले 2.7 करोड़ बेरोजगारों में से सिर्फ एक तिहाई का ही समायोजन कर सकता है।

"औद्योगिक रोजगार" पद अपने आप में भ्रामक भी हो सकता है। हालांकि राष्ट्रीय नमूना

सर्वेक्षण हमें बताते हैं कि 1993–94 से 1999–2000 के बीच विनिर्माण क्षेत्र में 58 लाख नए रोजगार पैदा हुए मगर इनमें से संगठित विनिर्माण क्षेत्र के रोजगारों की संख्या केवल 2 लाख है। इतना ही नहीं, नए "औद्योगिक" रोजगार भी कारखानों की चारदीवारी में दिखाई नहीं देते। एन्युअल सर्वे ऑफ इंडस्ट्रीज (जिसमें 10 या उससे अधिक कामगारों वाले विद्युत चालित तथा 20 या अधिक कामगारों वाले गैर–विद्युत चालित सभी कारखानों को कवर किया जाता है) के आंकड़ों से पता चलता है कि इस दौरान कारखाना आधारित रोजगार 87 लाख से गिरकर केवल 80 लाख रह गए। ऐसे में यह प्रतीत हो सकता है कि "विनिर्माण" क्षेत्र में नए रोजगार कारखानों के बाहर यानी अत्यंत छोटी इकाइयों और घर आधारित विनिर्माण गतिविधियों में पैदा हुए हैं। एनएसएस ने जिन इकाइयों को 'विनिर्माण इकाइयों' की श्रेणी में रखा है उनमें से 86 प्रतिशत ऐसी इकाइयां हैं जिनमें नियमित आधार पर मजदूर नहीं रखे जाते हैं; जिनमें से 70 प्रतिशत इकाइयां घर से ही चलाई जा रही हैं; और जिनमें से आधे से ज्यादा इकाइयां आदिम या परंपरागत किस्म की उत्पादन गतिविधियों (जैसे खाद्य पदार्थ, तंबाकू, लकड़ी की बनी चीजें, कपड़े, ईंट, चूड़ियां आदि) में संलग्न हैं।[12] इस क्षेत्र का विकास कुलांचें भरती औद्योगिक अर्थव्यवस्था का संकेत नहीं है बल्कि यह इस बात का संकेत है कि जैसे–तैसे दो वक्त की रोटी का इंतजाम करने के लिए लोग कितनी जद्दोजहद कर रहे हैं।

टेबल 5:
कारखाना क्षेत्र : इकाइयों की संख्या, रोजगार, तथा मूल्य संवर्धन

वर्ष	इकाइयों की संख्या (हजार)	रोजगार (मिलियन)	रोजगार (प्रतिशत) वृद्धि	मूल्य संवर्धन (अरब रुपए)
1990–91	110.2	8.163	0.3	515.15
1993–94	121.6	8.708	0	884.34
1994–95	123.0	9.102	4.5	1085.17
1995–96	134.6	10.045	10.4	1393.97
1996–97	132.8	9.449	–5.9	1573.49
1997–98	136.0	9.998	5.8	1664.41
1998–99	131.7	8.589	–14.1	1454.61
1999–00	131.6	8.173	–4.8	1549.74
2000–01	131.3	7.988	–2.3	1436.21

कोष्ठक में दी गई संख्याएं पिछले साल की तुलना में प्रतिशत वृद्धि को इंगित करती हैं। ये आंकड़े 10 या उससे अधिक कामगारों वाले विद्युत चालित तथा 20 या अधिक कामगारों वाले गैर–विद्युत चालित सभी कारखानों को कवर करते हैं। मूल्य संवर्धन चालू रुपए में है जिसे मुद्रास्फीति के अनुसार समायोजित नहीं किया गया है।

स्रोत : स्टेटेस्टिकल आउटलाईन ऑफ इंडिया, टाटा सर्विसेज़, एन्युअल सर्वे ऑफ इंडस्ट्री पर आधारित।

निर्माण गतिविधियां ताजा "औद्योगिक रोजगारों" का एक और स्रोत रही हैं। निर्माण क्षेत्र

में 1993–94 में 1.1 करोड़ लोगों को रोजगार मिला हुआ था और 1999–2000 में इस क्षेत्र में काम करने वालों की संख्या 1.5 करोड़ थी। मगर इसी दौरान निर्माण उद्योग में संगठित क्षेत्र रोजगारों की संख्या 12 लाख से गिरकर 11 लाख रह गई। असंगठित क्षेत्र निर्माण मजदूर ज्यादा मेहनत करते हैं, ज्यादा असुरक्षित होते हैं, ज्यादा खतरनाक काम करते हैं, प्रायः प्रवासी होते हैं, चिकित्सा सुविधाओं से वंचित होते हैं, विकलांगता मुआवजे से वंचित रह जाते हैं, बच्चों की शिक्षा और मानवीय आवासीय सुविधाओं से वंचित रहते हैं।

जब जुलाई 1991 में भारी उत्साह के साथ नई आर्थिक नीति लागू की गई थी तो हमें बताया जा रहा था कि अब अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश से बहुत सारे नए रोजगार पैदा होने लगे हैं। 1991–92 और 2000–01 के बीच भारत को 17.8 अरब डॉलर का प्रत्यक्ष विदेशी निवेश हासिल हुआ और उद्योग क्षेत्र के एक अध्ययन से पता चलता है कि विदेशी कंपनियों ने भारतीय बाजारों में अपना हिस्सा काफी बढ़ा लिया है। मगर इस बारे में कहीं कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं कि इस निवेश के फलस्वरूप प्रत्यक्ष रूप से कितने रोजगार पैदा हुए हैं। फिर भी, सकते में डाल देने वाली बात यह है कि संगठित क्षेत्र में विनिर्माण संबंधी रोजगार 1991–2000 के बीच केवल 1.7 प्रतिशत की दर से बढ़े जबकि सत्तर और अस्सी के दशक में यह वृद्धि दर क्रमशः 28.3 प्रतिशत और 16.9 प्रतिशत थी। बाजार में विदेशी कंपनियों का बढ़ता हिस्सा असंख्य रोजगार–सघन लघु उद्यमों की बंदी का भी कारण साबित हुआ है जिससे यही लगता है कि इस निवेश से रोजगारों में कुल मिलाकर गिरावट आई है।

औद्योगिक रोजगारों में ठहराव आंशिक रूप से इसीलिए है क्योंकि खुद उद्योग क्षेत्र भी बहुत धीमी गति से बढ़ पा रहा है और इसका कारण यह है कि उसके उत्पादों की मांग नहीं बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त, जैसे–जैसे सारी आय समाज के शिखर पर बैठे एक सीमित तबके के पास हस्तांतरित होती जाती है, न केवल उस आय के खर्च होने वाले हिस्से में कमी आती है बल्कि चीजों की मांग में भी बदलाव आने लगता है। ऐसी सूरत में अल्प–वेतन वस्तुएं (दैनिक उपभोग की वस्तुएं, बर्तन, सस्ते फर्नीचर, सस्ते कपड़े), और ऐश्वर्यपूर्ण साजो–सामान (इलेक्ट्रॉनिक चीजें, कार, महंगे कपड़े वगैरह) की मांग बढ़ जाती है जिनमें आयातित कलपुर्जे व तकनीक का ज्यादा इस्तेमाल होता है और खेतिहर अर्थव्यवस्था का अंश कम रहता है।

मान लीजिए कि किसी वजह से गरीब काश्तकारों को थोड़ी सी अतिरिक्त आमदनी हो जाती है और उसके एक हिस्से से वह नई धोतियां खरीदते हैं। धोतियों के लिए कपड़ों के उत्पादन से न केवल कपड़ा उद्योग में रोजगार पैदा होते हैं बल्कि उसमें कपास की जरूरत भी बढ़ जाती है जिससे कृषि क्षेत्र में मांग को बढ़ावा मिलता है। कपड़ा उद्योग को कपड़ा बनाने के लिए मशीनों की जरूरत पड़ती है जिससे न केवल कपड़ा बनाने वाली मशीनों के उद्योग में मांग बढ़ जाती है बल्कि उस उद्योग को साजो–सामान

उपलब्ध कराने वाले सारे उद्योगों की चीजों की मांग में इजाफा हो जाता है। मशीनों की मांग बढ़ने पर इन मशीनों के लिए स्टील मुहैया कराने वाले कंपनी को काम मिलता है और उसको काम मिलने से लौह अयस्क और कोयला उद्योग को काम मिलता है। यह सिलसिला आगे भी ऐसे ही चलता जाता है। ऐसी स्थिति में बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए नए संयंत्रों की स्थापना करना जरूरी हो जाता है जिसके लिए सीमेंट, स्टील और अन्य निर्माण सामग्री की जरूरत पड़ती है। इन सभी उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों को वेतन मिलता है और कपड़े की मांग पहले से ज्यादा हो जाती है। इस प्रकार यह पूरा चक्र एक बार फिर शुरू हो जाता है। इस प्रकार की मांग में मूल वृद्धि कई गुना ज्यादा आमदनी को जन्म देती है। इस उदाहरण की महत्वपूर्ण बात यह है कि धोतियां बनाने के लिए आवश्यक चीजें और तकनीकी देश में ही उपलब्ध है इसलिए इस पूरी प्रक्रिया में मांग बढ़ने का लाभ देश के बाहर किसी और को नहीं मिल सकता।

आइए इसकी बजाय एक और कल्पना करें। मान लीजिए कि यही आमदनी किसान के हाथों में आने की बजाय मुंबई में स्थित किसी वित्तीय कंपनी के आला एक्जीक्यूटिव के हाथ में पहुंच जाती है। अब अनुमान लगाकर देखिए कि वह इस पैसे का क्या करेगा। सबसे पहले तो वह इसका एक बड़ा हिस्सा संभवतः बचत के तौर पर जमा कर लेगा। उसके एक हिस्से को वह किसी अत्यंत यांत्रिक ढंग से चलने वाले विदेशी बैंक के खाते में जमा करा देगा और कुछ पैसे को शेयरों या म्यूचुअल फंड्स में लगा देगा। अगर वह बहुत अमीर है तो इसका एक बड़ा हिस्सा वह किसी विदेशी बैंक में जमा करा देगा हालांकि ऐसा करना कानूनन सही नहीं है। बचे–खुचे पैसे में से थोड़ा सा पैसा वह खाने–पीने पर खर्च कर देगा। इस खर्चे का भी एक बड़ा हिस्सा ऐसे आलीशान रेस्टोरेंट्स में खर्च होगा जहां अच्छे–खासे टर्नओवर के बावजूद बहुत कम लोगों को रोजगार मिलता है। बचे हुए पैसे में से थोड़ा सा पैसा आयतित कपड़े से बने महंगे परिधानों पर खर्च हो जाएगा। मगर इस पैसे का एक बड़ा हिस्सा स्वचालित गाड़ियों, विलासिता की इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं, घरेलू साजसज्जा, देश–विदेश के पांच सितारा होटलों में छुट्टी व सैर–सपाटे, विदेश में पढ़ रहे बच्चों की शिक्षा आदि पर खर्च हो जाएगा। हमारे देश में स्वचालित वाहन और विलासिता के इलेक्ट्रॉनिक साजो–सामान बनाने वाले उद्योग तथा हमारा पांच सितारा होटल उद्योग बहुत बड़े पैमाने पर आयात करते हैं। अब तो अमीरों की घरेलू साज–सज्जा में भी आयातित वस्तुओं का हिस्सा बढ़ता जा रहा है। इसका मतलब है कि इस एक्जीक्यूटिव की बचत और उपभोग का एक बड़ा हिस्सा देश के बाहर चला जाता है। शेयर बाजार या बैंक खातों में वह जो पैसा लगा रहा है उसका भी एक हिस्सा कभी उत्पादन गतिविधियों में निवेश नहीं होता क्योंकि उद्योग क्षेत्र जब तक ताजा निवेश नहीं करेगा जब तक कि औद्योगिक उत्पादों की मांग में इजाफा नहीं होगा। और अगर औद्योगिक इकाइयां बैंकों से कर्जा नहीं लेगी तो बैंक भी उत्पादन के लिए कर्जा नहीं दे पाएंगे। इसका मतलब है कि हमारे एक्जीक्यूटिव महोदय की बचत वित्तीय बाजार में फंड्स के आसमान छूते ढेर का हिस्सा बन जाएगी और मंदी की शिकार उत्पादक व्यवस्था का गला घोंटती रहेगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी अतिरिक्त आय से भी कुछ रोजगार जरूर पैदा होंगे। मसलन, आयातित उपभोक्ता वस्तुओं की असेम्बलिंग करने वाले मजदूरों, उसके घर की पुनर्साजसज्जा में लगे कारीगरों, घरेलू नौकरों, ड्राइवरों, चौकीदारों और जी हां, गोल्फ कोर्स पर काम करने वाले कर्मचारियों को थोड़ा और काम मिल जाएगा। मगर इस पूरी प्रक्रिया में होने वाला उत्पादन, आमदनी और रोजगार वृद्धि धोतियों की मांग में इजाफे से उत्पादन, आय और रोजगारों में होने वाले वृद्धि के मुकाबले बहुत कम रहेगी। पहले किस्म की मांग को पूरा करने की कोशिशों से एक आवश्यक औद्योगिक आधार की स्थापना व संचालन के लिए और सर्वांगीण तकनीकी ज्ञान देसी स्रोतों से ही विकसित होने लगता है। मगर दूसरे वाले विकल्प में इस तरह के आधार और क्षमता की अपेक्षा करना बेकार है क्योंकि वहां जो आर्थिक गतिविधियां और क्षमताएं विकसित हो रही हैं वह सीमित, विकृत आकांक्षाओं की पूर्ति करने वाली और पराश्रित हैं।

रोजगार की तलाश में निकलने वालों के लिए सेवा क्षेत्र अंतिम रास्ता है

हाल के सालों में ताजा रोजगारों का सबसे प्रमुख स्रोत सेवा क्षेत्र था जिसने 1.15 करोड़ अतिरिक्त नौकरियों को जन्म दिया है।

सेवा क्षेत्र में भी सबसे बड़ा हिस्सा "व्यापार, होटल एवं रेस्टोरेंट्स" का था जहां 1993–94 से 1999–2000 के बीच 1.07 करोड़ अतिरिक्त रोजगार पैदा हुए। ऐसा लगता है कि यह क्षेत्र जल्दी ही विनिर्माण क्षेत्र से भी ज्यादा लोगों को रोजगार देने वाला क्षेत्र बन जाएगा। "व्यापार" में तमाम तरह के छोटे–मोटे फेरीवाले शामिल हैं, जिनमें आमतौर पर एक ही आदमी या औरत काम करती है (असंगठित सेवा क्षेत्र में प्रति उद्यम रोजगारों की औसत संख्या दो से भी कम है)। ये लोग बड़ी मुश्किल से दो वक्त की रोटी जुटा पाते हैं। हमारे देश में लंबे समय से कृषि क्षेत्र प्रच्छन्न बेरोजगारी या अन्यत्र रोजगार न पाने वालों को जैसे–तैसे थोड़ी–बहुत आजीविका उपलब्ध कराने वाला क्षेत्र था अब सेवा क्षेत्र भी लगभग वैसी ही भूमिका निभाता दिखाई दे रहा है।

"नई अर्थव्यवस्था" के रोजगार : ऊंट के मुंह में जीरा

'सेवाओं' के क्षेत्र में 'रोजगार' पाने वालों में से ज्यादातर की असली दशा जनसंचार माध्यमों के ध्यानाकर्षण का केंद्र नही बन पाती। हमारे जनसंचार माध्यम तो बस सॉफ्टवेयर और "सूचना प्रौद्योगिकी सुलभ सेवाओं" (आईटीईएस जिसे "बिजनेस प्रोसेस आउटसोर्सिंग" या बीपीओ भी कहा जाता है) में पैदा हो रही नौकरियों पर ही ज्यादा ध्यान देते हैं। ये दोनों गतिविधियां विदेशी, मुख्य रूप से अमेरिकी कंपनियों द्वारा ठेके पर करवाए जाने वाले कामों पर आधारित हैं। इनमें पहला, यानी सॉफ्टवेयर उद्योग, देशी–विदेशी कंपनियों की आंतरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कंप्यूटर प्रोग्राम (मसलन उनके

डेटा को व्यवस्थित करना) लिखता है। इस काम का एक बड़ा हिस्सा भारतीय सॉफ्टवेयर पेशेवरों को बाहर भेजकर ही कराया जाता है। ये लोग वहीं जाकर काम करते हैं जहां उसकी जरूरत होती है। इस घटनाक्रम को "बॉडी शॉपिंग" कहा जाता है। दूसरा हिस्सा विदेशी कंपनियों/सरकारी एजेंसियों के लिए कुछ निम्नस्तरीय काम करने से संबंधित है। फोन कॉल्स का जवाब देना, दावों की प्रोसेसिंग करना, टेप रिकॉर्डेड संदेशों से मेडिकल रिकार्ड्स को लिखना आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इन रोजगारों की संख्या में निश्चय ही तेजी से इजाफा हुआ है। सॉफ्टवेयर निर्माण का काम हमारे यहां नब्बे के दशक के मध्य में लगभग शून्य से शुरू हुआ था जबकि आईटीईएस की शुरुआत तो महज पांच साल पहले ही हुई थी। इसके बावजूद 2003 तक आते–आते इन दोनों क्षेत्रों में क्रमशः 4,90,000 और 1,60,000 लोगों को रोजगार मिल चुका था। जब संगठित क्षेत्र में रोजगार गिर रहे हों उस समय इस तरह की विकास दर निश्चय ही नाटकीय दिखाई देती है। बल्कि सरकार ने तो इसी उद्योग को अपने "भारत उदय" प्रोपेगेंडा का एक बड़ा हिस्सा बना दिया था और इसी के आधार पर अब वह जल्दी ही (आईटीईएस) "क्षेत्र में रोजगारों की संभावना का प्रचार करने और उसे सम्मानजनक कैरियर के रूप में प्रोत्साहित करने" के लिए मुहिम शुरू करने जा रही है (बिजनेस स्टैंडर्ड, 2/12/03)।

बहरहाल, सॉफ्टवेयर और आईटीईएस उद्योग मध्यमवर्गीय युवाओं के एक अच्छे–खासे तबके को भले ही नौकरी दे सकता हो और उनकी हताशा को शांत करने में एक अहम भूमिका निभा सकता हो मगर इन क्षेत्रों में रोजगारों की संख्या प्रतिशत के लिहाज से (2004 में कुल रोजगारों का मात्र 0.2 प्रतिशत) बहुत मामूली है। रोजगारों की कुल जरूरत को देखते हुए यह बहुत मामूली योगदान है। फॉरेस्टर रिसर्च नामक एक सर्वेक्षण व अनुसंधान कंपनी का मानना है कि वर्ष 2015 तक अमेरिका के केवल 33 लाख आईटीईएस रोजगार ही बाहर जाएंगे। अंदाजा लगाने की जरूरत नहीं है कि इनमें से भारत के हिस्से में कितने रोजगार आ पाएंगे क्योंकि चीन जैसे बहुत सारे दूसरे देश भी इन्हीं रोजगारों पर आंखें गड़ाए बैठे हैं। इसके बावजूद, अगर मान लें कि भारत अगले 11 साल में इनमें से 20 लाख नौकरियां हथिया लेगा तो भी इस संख्या को भारतीय श्रम बाजार के समक्ष रखने पर कोई खास फर्क पड़ता दिखाई नहीं देता। अगर हम अपने विश्लेषण के आधार पर मान लें कि हर साल 90 लाख से 1 करोड़ नए लोग रोजगार के लिए भारतीय श्रम बाजार में दाखिल हो रहे हैं तो इसका मतलब है कि अमेरिका से भारत को मिलने वाले आईटीईएस रोजगारों से काम की तलाश में निकलने वाले इन नवागंतुकों में से केवल 2 प्रतिशत को ही नौकरी मिल पाएगी।[13]

भारत के ज्यादातर उद्योग घरेलू मांग पर निर्भर करते हैं और मोटे तौर पर उनमें घरेलू साजोसामान का ही इस्तेमाल किया जाता है। मगर सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) और आईटीईएस उद्योग में जो चीजें इस्तेमाल होती हैं उनका बहुत छोटा हिस्सा ही स्थानीय स्तर पर बनाया जाता है। ये उद्योग मुख्य रूप से विदेशी स्रोतों पर निर्भर रहते हैं। इस रुझान से रोजगार बाजार के लिए दो तरह के परिणाम पैदा होते हैं। पहला, बाकी

अर्थव्यवस्था के साथ पृष्ठसंबंधों के अभाव का मतलब यह है कि सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग अन्य उद्योगों में नए रोजगारों को जन्म नहीं देगा। दूसरा परिणाम यह है कि अगर किसी वजह से विदेशी मांग गिर जाए – मसलन दूसरे देश भी इसी तरह की सेवाओं में कड़ी प्रतिस्पर्धा देने लगें या अमेरिका जैसे बड़े देश इस तरह के कामों को बाहर से करवाने की नीति रद्द कर दें – तो इस क्षेत्र में रोजगार अचानक धराशायी हो सकते हैं। अभी तो आईटीईएस उद्योग के बहुत थोड़े से रोजगार ही भारतीयों को मिले हैं मगर अमेरिका में इन रोजगारों को लेकर अभी से भारी राजनीतिक बवाल खड़ा हो गया है। सॉफ्टवेयर पेशेवरों के लिए निर्धारित वीज़ाओं की संख्या घटाकर आधी कर दी गई है और ऐसे कानून पारित करने की तैयारी चल रही है जो अमेरिकी राज्य सरकारों को अपने आईटीईएस उद्योग में भारतीय कंपनियों को काम न देने के लिए बाध्य कर देंगे। यानी यह ऐसा ठोस आधार नहीं है जिसके सहारे "क्षेत्र में रोजगारों की संभावना का प्रचार करने और उसे सम्मानजनक कैरियर के रूप में प्रोत्साहित करने" के बारे में सोचा जा सके।

कुल मिलाकर हमारे देश में रोजगार और बेरोजगारी की तस्वीर यही है। यह बात विकसित पूंजीवादी देशों के लिए भी बेमानी है कि अगर श्रमशक्ति का मूल्य पर्याप्त रूप से गिरा दिया जाए तो वहां पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकती है या नहीं, क्योंकि पूंजीपति लोगों को काम पर रखने का फैसला इस आधार पर नहीं लेते कि बाजार में वेतन बहुत कम हैं। वह तो इस आधार पर फैसले लेते हैं कि उनके इस फैसले से मुनाफे की संभावना कितनी है। भारत जैसे देशों के मामले में तो श्रमशक्ति के 'बाजार निर्गम' मूल्य की बात और भी बेतुकी हो जाती है क्योंकि यहां तो कामकाजी आयु वर्ग के आधे लोगों के पास किसी भी तरह का काम ही नहीं है और जो जैसे–तैसे रोजगार पा चुके हैं उनमें से भी एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे लोगों का है जो किसी न किसी प्रकार के स्वरोजगार के माध्यम से बमुश्किल अपना पेट भर पा रहे हैं। इसका मतलब है कि हमारा श्रम बाजार 'निर्गम' तक नहीं पहुंच सकता यानी सभी संभावित श्रमिकों को रोजगार नहीं दे सकता फिर श्रम शक्ति की कीमत चाहे कितनी भी कम क्यों न हो जाए। हमारे देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था इतने बड़े पैमाने पर मांग और रोजगार मुहैया कराने की हालत में है ही नहीं। ऐसा इसलिए है क्योंकि भारत साम्राज्यवाद (अवरुद्ध और विदेशी पूंजी की गिरफ्त में कैद) के शिकंजे में जकड़ा हुआ है। और इसीलिए उसकी विशाल उत्पादक संभावनाएं, करोड़ों लोगों का श्रम फिजूल का सवाल बना हुआ है।

टिप्पणियां :

1. पूंजीवादी सैद्धांतिक खाके के बाहर एक अर्थशास्त्री, कार्ल मार्क्स, ने एक बिल्कुल अलग आधार पर पूंजीवादी व्यवस्था में दो किस्म की बेरोजगारी का विश्लेषण किया है। उनकी पहली व्याख्या के मुताबिक, पूंजीपति बेरोजगारों के समूह – श्रमिकों की आरक्षित सेना – का इस्तेमाल रोजगारशुदा कामगारों की सौदेबाजी क्षमता को तोड़ने के लिए करते हैं; और दूसरा, बीच–बीच में आने वाले संकट और मंदियों से पैदा होने वाली बेरोजगारी पूंजीवादी व्यवस्था की निहित विशेषता है।

2. एस. पी. गुप्ता, बिजनेस स्टैंडर्ड, 20/1/04 में उद्धृत।

3. यहां हमने अधिकृत आर्थिक सर्वेक्षण 2002–03 की तर्ज पर चालू दैनिक स्थिति आधार के आंकड़े लिए हैं।

4. अगर 2003–04 में 8 प्रतिशत वृद्धि दर के महत्वाकांक्षी लक्ष्य को हासिल कर लिया गया तो यह मुख्य रूप से 2002–03 में जीडीपी में 4.3 प्रतिशत के अत्यंत सीमित आधार का परिणाम होगा। कहने का आशय यह है कि क्योंकि इस साल की विकास दर पिछले साल के प्रदर्शन के अनुपात में मापी जाएगी इसलिए अगर पिछले साल की विकास दर अच्छी नहीं रही है तो इस साल की विकास दर स्वाभाविक रूप से बढ़ जाएगी।

5. वर्ष 1987–88, 1993–94 और 1999–2000 के रोजगार और बेरोजगारी सर्वेक्षणों में नमूनों की संख्या बहुत बड़ी थी और इन तीनों सर्वेक्षणों के बीच फासला भी अच्छा–खासा था जिसके आधार पर दीर्घकालिक रुझानों के बारे में तुलनात्मक रूप से संतोषजनक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। हालांकि सन् 2000 के बाद भी नमूना सर्वेक्षण किए गए हैं मगर उनमें नमूनों की संख्या बहुत कम थी। लेकिन सरकार ने इन्हीं सर्वेक्षणों के आधार पर यह दावा ठोंक दिया है कि वर्ष 2000 के बाद रोजगार वृद्धि दर आसमान छूने लगी है और अब हर साल 84 लाख नए रोजगार पैदा हो रहे हैं। क्या सरकार का यह दावा विश्वसनीय है? कतई नहीं। 2000–01, 2001–02 और 2002–03 में जीडीपी वृद्धि दर क्रमशः मात्र 4.4, 5.6 और 4.3 प्रतिशत थी और पहले व तीसरे साल में तो कृषि क्षेत्र के जीडीपी में गिरावट भी दर्ज की गई। ऐसे में सरकार के इस दावे का यही मतलब निकलता है कि जब कृषि क्षेत्र यानी अर्थव्यवस्था के सबसे बड़े रोजगारदाता क्षेत्र में रोजगार घट रहे थे और उद्योग जगत भी मंदी का शिकार था उसी समय विकास का रोजगार लचीलापन अचानक 0.5 से ऊपर पहुंच गया था। यह दावा महज चुनावी प्रोपेगेंडा है और जब सारे आंकड़े सामने आ जाएंगे तो इस दावे की भी कलई खुल जाएगी।

6. रोजगार लचीलेपन 0.16 और 2000–01, 2001–02, 2002–03 और 2003–04 (अनुमानित) में जीडीपी वृद्धि दर को देखते हुए।

7. यह मानते हुए कि उसमें सालाना 2.7 प्रतिशत की दर से इजाफा हो रहा है।

8. तस्वीर उस समय और निराशाजनक दिखाई देने लगती है जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि एनएसएसओ के मुताबिक 1999–2000 में 1.04 करोड़ बच्चे भी काम कर रहे थे; जिसका मतलब है कि कामकाजी उम्र के इससे भी कम लोग ही वस्तुतः रोजगार में होंगे।

9. यहां इस बात को याद कर लेना उपयोगी रहेगा कि जब चीन समाजवादी अर्थव्यवस्था के रास्ते पर चल रहा था और समूची संभावित श्रमशक्ति को उत्पादन में लगाने के लिए भरपूर कोशिशें की जा रही थीं उस वक्त कई ऐसे मौके भी आए थे जब कामकाजी उम्र की तकरीबन सभी महिलाएं सामाजिक श्रम में हिस्सेदारी कर रही थीं और कुल श्रम दिवसों में महिलाओं का हिस्सा 40–45 प्रतिशत तक होता था।

10. यह मानते हुए कि कामकाजी उम्र की आबादी में 52 प्रतिशत और श्रमिकों में 70 प्रतिशत पुरुष हैं।

11. व्हाई इज़ एग्रीकल्चरल एम्प्लॉयमेंट फॉलिंग?", 22/4/03 www.macroscan.org

12. सी. पी. चंद्रशेखर, "फॉर्म्स ऑफ ड्यूएलिज़्म : एन एनालिसिस ऑफ दि स्ट्रक्चर ऑफ इंडियाज़ अनरजिस्टर्ड मैन्युफैक्चरिंग सैक्टर्स बेस्ड़ ऑन दि 56th राउंड रिज़ल्ट्स", www.macroscan.org

13. आईटी उद्योग में मानव संसाधन विकास के लिए गठित किए गए अधिकृत कार्यबल ने 2009 तक आईटी और आईटीएस उद्योग में 15 लाख नई नौकरियों का दावा किया है। अगर यह बात सही हुई तो भी यह संख्या अगले पांच सालों में रोजगार की तलाश में निकलने वाले नवागंतुकों में से केवल 3 प्रतिशत को ही रोजगार दे पाएगी।

परिशिष्ट २

लोगों का निवाला छीनना

अपने देश की गरीबी से संबंधित रुझानों पर बौद्धिक जगत पिछले तीन दशकों से सिर खपा रहा है। गरीबी के रुझानों से संबंधित इस बौद्धिक कवायद में पिछले कुछ सालों से इस बात पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा है कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के उपभोक्ता व्यय आंकड़ों की व्याख्या कैसे की जाए, खासतौर से 1999–2000 चक्र के व्यय आंकड़ों को कैसे समझा जाए। इस चक्र में लोगों से पूछे गए उपभोग संबंधी सवालों में कुछ अहम बदलाव किए गए थे जिसकी वजह से इस चक्र के नतीजों की तुलना पिछले चक्रों के नतीजों से नहीं की जा सकती। इसके बावजूद पुराने संदेहास्पद आंकड़ों के आधार पर सरकार ने दावा ठोंक दिया है कि 1993–94 में गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे लोगों का प्रतिशत 36 था जो 1999–2000 में केवल 26 प्रतिशत रह गया है। थोड़े संजीदा और सत्यनिष्ठ अर्थशास्त्री इस दावे को चुनौती देते हुए दलील दे रहे हैं कि अगर 1999–2000 चक्र के दूषित आंकड़ों को अनदेखा कर दिया जाए तो साफ दिखाई दे जाता है कि नब्बे के दशक में भी गरीबी में कोई गिरावट नहीं आई है।

आइए फिलहाल इस जटिल तकनीकी बहस को एक तरफ रख दें और एक सीधे–सादे व ज्यादा सार्थक सवाल पर ध्यान दें। सवाल यह है कि ऐसे लोगों की संख्या कितनी है जिन्हें चिकित्सा विज्ञान के मानकों के अनुसार अच्छी सेहत बनाए रखने के लिए जरूरी न्यूनतम पोषण मिल पा रहा है?

यह पैमाना गरीबी के बारे में चल रही उपरोक्त बहस से बिल्कुल अलग है। आय विपन्नता को मापने के शासकीय तरीकों में इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि लोगों की न्यूनतम खाद्य आवश्यकताएं पूरी हो पा रही हैं या नहीं। शासकों का तरीका तो सिर्फ इस बात पर केंद्रित रहता है कि पूरे परिवार की आय एक निश्चित कैलोरी संख्या से लैस विविध वस्तुओं और सेवाओं की एक निश्चित मात्रा खरीदने में सक्षम है या नहीं। वस्तुओं और सेवाओं के इस समूह में अलग–अलग चीजों की मात्रा उपभोक्ता व्यय के तीन दशक पुराने सर्वेक्षणों पर आधारित है। यदि किसी भी वजह से कोई परिवार इन वस्तुओं को दशकों पहले निर्धारित मात्रा के हिसाब से नहीं खरीदता बल्कि ऐसी

चीजें और ऐसी मात्रा में खरीदता है जिनमें पर्याप्त कैलोरी नहीं हैं तो निर्धनता संबंधी अध्ययनों में मान लिया जाता है कि लोग अपनी इच्छा से ऐसा कर रहे हैं। ऐसे में परिवार को "गरीब नहीं" माना जाता है जबकि वास्तविकता यह है कि वह परिवार चिकित्सकीय दृष्टि से कैलोरी की न्यूनतम जरूरत को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। इसी प्रकार, **यद्यपि एनएसएस के ताजा आंकड़े बताते हैं कि हमारे तीन चौथाई लोगों को आवश्यक न्यूनतम कैलोरी भी नहीं मिल पाती मगर अधिकृत आंकड़ों में बड़ी बेशर्मी से दावा किया जाता है कि सिर्फ एक चौथाई लोग ही गरीबी की रेखा से नीचे हैं।** इसका मतलब है कि आधी से ज्यादा आबादी को हम स्वैच्छिक रूप से कम खाने वालों की आबादी मान रहे हैं।

यह अजीबोगरीब निष्कर्ष इस तथ्य को नजरअंदाज कर देता है कि कई ऐसी चीजें, जो वास्तविक व्यय का एक बड़ा हिस्सा बैठती हैं, अनैच्छिक या मजबूरन भी हो सकती हैं। मिसाल के तौर पर, अब बहुत सारे लोगों को जलावन के लिए जंगलों से लकड़ी नहीं मिलती। हो सकता है अब वह पैसे देकर लकड़ी खरीदने लगे हों। मुमकिन है कि घर से काम पर जाने के लिए बस का भाड़ा बाकी चीजों की कीमतों के मुकाबले कहीं ज्यादा बढ़ चुका हो। मुमकिन है कि इस दौरान बच्चों की पढ़ाई–लिखाई का खर्चा पूरा करने के लिए जरूरी चीजों की कीमत या डॉक्टर की फीस व दवाइयों की कीमत भी बढ़ गई हो। ऐसी सूरत में गरीब परिवारों के पास इसके अलावा और कोई चारा नहीं होता कि वह इन सारे खर्चों को पूरा करने का इंतजाम करें – अगर उसके लिए भोजन पर होने वाले व्यय में कटौती करनी पड़े तो भी कोई बात नहीं। क्योंकि ऐसा न करने पर नौकरी छूट सकती है, बच्चे का भविष्य खराब हो सकता है या किसी को लंबी बीमारी हो सकती है जिससे आमदनी पर गहरा असर पड़ेगा। हमारे देश के ज्यादातर लोग बारहों महीने ऐसे ही हालात का सामना करते हैं।

इसके अतिरिक्त, अगर पहले से ही अत्यंत संकुचित हो चुके बजट में अनाज की कीमत और ऊपर चली जाए तो इस मूल्यवृद्धि से पार पाने का शायद एकमात्र रास्ता यही बचेगा कि अनाज के उपभोग में कमी कर दी जाए। वैसे भी, इस तरह की कटौती से तत्काल मृत्यु का खतरा दिखाई नहीं देता बल्कि सिर्फ स्थायी ऊर्जा अभाव की समस्या पैदा होती है जिसके हम अब आदी ही हो चले हैं। **भारत की आधी आबादी स्थायी ऊर्जा अभाव के साथ ही जी रही है जबकि उसके अलावा 20 प्रतिशत आबादी ऐसी है जो सिर्फ आवश्यक ऊर्जा स्तर तक पहुंच पाती है। यह गरीबी को लेकर चल रही बहस पर एक विध्वंसक टिप्पणी है कि इन तमाम लोगों को गरीब नहीं माना जाता।**

अनाज के उपभोग में भारी कटौती

राष्ट्रीय पोषण संस्थान (एनआईएन) द्वारा तय न्यूनतम मानकों के हिसाब से हर व्यक्ति को प्रतिवर्ष कम से कम 157 किलोग्राम अनाज खाना चाहिए।[1] अगर इन मानकों के हिसाब से

चलें तो एक स्वस्थ समाज के लिए यह औसत सामान्यतः इससे कहीं ज्यादा ही होना चाहिए। नई आर्थिक नीति के लागू होने के बाद लोगों के अनाज उपभोग में भारी गिरावट आई है। 1990–91 में प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग 161.2 किलोग्राम सालाना था जो 1998 में केवल 144.9 किलोग्राम रह गया। यह प्रति व्यक्ति 16.3 किलोग्राम और 5 व्यक्तियों के परिवार के लिए 81.5 किलोग्राम सालाना की गिरावट है।

ये आंकड़े राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से लिए गए हैं जिसमें उपभोक्ता व्यय को लेकर पूरे देश में बहुत सारे लोगों से साक्षात्कार लिए जाते हैं। अधिकृत उपभोग आंकड़ों के एक और स्रोत – अनाज की "सकल उपलब्धता" – से भी इस गिरावट की पुष्टि होती है। हालांकि सकल उपलब्धता मानकों पर पहुंचने का तरीका अलग है मगर ये आंकड़े भी 1991 से 1998 के बीच 17.8 किलोग्राम और 1998 से 2001 के बीच 9.8 किलोग्राम की गिरावट दर्शाते हैं। इसका मतलब है कि 1991 से 2001 के बीच प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग में 27.6 किलोग्राम और प्रति परिवार अनाज उपभोग में 138 किलोग्राम की गिरावट आ चुकी है।

1991 से 2001 के बीच प्रति व्यक्ति दाल उपलब्धता भी सालाना 15.2 किलोग्राम से गिरकर 10.6 किलोग्राम रह गई। यह 30 प्रतिशत की गिरावट है। इसका मतलब है कि 5 लोगों के परिवार में अब 1991 के मुकाबले 22.8 किलोग्राम कम दालों का इस्तेमाल होता है।

अधिकृत आंकड़ों से अनजान आम लोग भी अपने निजी अनुभव के आधार पर इस हकीकत को मोटा–मोटी जानते हैं। हमारे देश में भुखमरी तो हमेशा ही रही है मगर 2000–01 में पड़े सूखे के बाद 2001 में तो यह और स्पष्ट दिखाई देने लगी। गुजरात और कर्नाटक में गरीबी और पलायन का तांडव बहुत बड़े पैमाने पर देखा गया। राजस्थान गए जांच दलों ने पाया कि वहां भूख से निपटने के लिए लोग घास खाने तक की स्थिति में पहुंच गए हैं। उड़ीसा के रायगड़ा, गजपति, मलकानगिरि और कंधामल जिलों में तो भुखमरी के कारण हुई मौतों की गिनती करना भी मुश्किल था।

हाल के सालों में महाराष्ट्र के अमरावती, ठाणे, धुले और नंदुरबार जिलों में भी भुखमरी के कारण मौतों की खबरें आई हैं।

नौकरशाही की राय में सब कुछ ठीक–ठाक है। महाराष्ट्र सरकार ने भूख के कारण मरे बच्चों की मौत के लिए आदिवासियों के बीच प्रचलित पिछड़े तौर–तरीकों को जिम्मेदार बताया है। जब उड़ीसा में भूख से मर रहे आदिवासी आम की गुठली में से गिरि निकाल कर खाने लगे और फलस्वरूप खाद्य विषाक्तता के कारण मारे गए तो राज्य सरकार ने तत्काल ऐलान किया कि इन मौतों को भुखमरी के कारण होने वाली मौतों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सरकार ने दावा किया कि यहां के लोग आम की गिरि बड़े मजे से खाते हैं। यहां तक कि प्रधानमंत्री ने भी देश के विभिन्न भागों में भुखमरी के कारण

हो रही मौतों की खबर को "मीडिया द्वारा फैलाई जा रही अफवाहों" की संज्ञा दे डाली।

विभिन्न संसदीय दलों की सरकारों की ये प्रतिक्रियाएं चाहे कितनी भी दुर्भावनापूर्ण हों मगर बिल्कुल अपरिहार्य और स्वाभाविक हैं। आखिरकार, किसी भी सरकार या नीति के लिए इससे बड़ा अभियोग और क्या होगा कि यह मान लिया जा कि उसी की वजह से जो लोग अब तक न्यूनतम दैनिक कैलोरी मानक से भी 600 कैलोरी कम उपभोग कर रहे थे उन्होंने अपने आहार में 200 कैलोरी की और कटौती कर ली है।

विश्व बैंक के मंसूबे

भारत चमक रहा है। सरकार बार–बार मुनादी करवा रही है कि देश में अनाज की कोई कमी नहीं है। बल्कि जिस समय सूखे की विभीषिका शिखर पर थी उसी समय हमारे अनाज के गोदाम फटे जा रहे थे। पहले जब सूखा पड़ता था तो पीडीएस के जरिए होने वाले वितरण में इजाफा हो जाता था। मगर 2001 में ऐसा नहीं हुआ। उस साल तो सूखे के बावजूद पीडीएस व्यवस्था के तहत होने वाले अनाज वितरण में 28.9 प्रतिशत की कमी आ गई और सरकारी अनाज भंडार 580 लाख टन तक जा पहुंचा। यह अजीबोगरीब स्थिति विश्व बैंक और अन्य साम्राज्यवादी संस्थानों द्वारा थोपी गई सुनियोजित सरकारी नीति का परिणाम थी।

आइए जरा इस घटनाक्रम की पृष्ठभूमि पर विचार करें। साम्राज्यवादी देशों की कंपनियां तीसरी दुनिया में खाद्यान्न बाजार के ज्यादा से ज्यादा हिस्से पर अपना कब्जा जमाना चाहती हैं। आज की तारीख में उनके हाथ इसलिए बंधे हुए हैं क्योंकि साम्राज्यवादी देशों में अनाज की कीमत बहुत ज्यादा है (क्योंकि वहां बड़े पैमाने पर सब्सिडी दी जाती है)। इधर तीसरी दुनिया के बहुत सारे देशों में भी घरेलू उत्पादन ठीक–ठाक स्तर तक पहुंच चुका है। भारत जैसे कुछ देशों में तो लंबे समय से खाद्य सुरक्षा व्यवस्था (अनाज की सरक. ारी खरीद और सार्वजनिक वितरण व्यवस्था) भी अस्तित्व में रही है। देश के सभी लोगों को पर्याप्त पोषण मुहैया कराने में ये व्यवस्थाएं चाहे कितनी भी नाकाफी क्यों न रही हों मगर वह बहुराष्ट्रीय कृषि व्यवसाय कंपनियों की मुनाफाखोरी पर एक अंकुश तो लगा ही देती हैं। ये नीतियां एक हद तक घरेलू उत्पादन (अनाज उत्पादकों को एक निश्चित कीमत का आश्वासन देकर) सुनिश्चित करती हैं और खाद्यान्न व्यापार में सट्टेबाजी व अति मुनाफे को हतोत्साहित करती हैं (इसके लिए बड़े पैमाने पर सरकारी भंडार रखे जाते हैं जिनका इस्तेमाल सरकार महंगाई के समय कीमतों पर अंकुश लगाने के लिए कर सकती है)। ऐसे में साम्राज्यवादी देशों के लिए यह आवश्यक है कि तीसरी दुनिया के मुख्य देशों के खाद्यान्न उत्पादन के रास्ते में रुकावटें पैदा हों और उनकी खाद्य सुरक्षा व्यवस्था क्षीण हो जाए। अगर वह अपने इन मंसूबों में कामयाब हो जाते हैं तो तीसरी दुनिया में साम्राज्वादी देशों के अनाज का बड़े पैमाने पर आयात होने लगेगा और बहुराष्ट्रीय अनाज कंपनियों के लिए भारी मुनाफे का रास्ता खुल जाएगा। साम्राज्यवादी देशों को इस बात से कोई फर्क नहीं

पड़ता कि उनकी ये कोशिशें अनाज की वैश्विक मांग में कमी लाने का कारण बन भी सकती हैं क्योंकि किसी भी इजारेदार (या संभावित इजारेदार) के लिए अहम बात यह नहीं है कि उसके उत्पादन की कितनी बिक्री हो रही है बल्कि उसके लिए तो सिर्फ यही बात अहम होती है कि उसे कितना मुनाफा मिल रहा है।

इसी वजह से विश्व बैंक ने 1991 के अपने दस्तावेज इंडिया : कंट्री इकॉनॉमिक मेमोरेंडम, वाल्यूम II – एग्रीकल्चर : चैलेंजेज़ एंड ऑपर्चुनिटी (देखें आस्पेक्ट्स संख्या 18, पृष्ठ 34–74) में भारत की सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर हमला बोलते हुए कहा था : "भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) को अनाज की खरीद, परिवहन और भंडारण में अपनी प्रत्यक्ष भूमिका कम कर देनी चाहिए। इन कामों के लिए लाइसेंसशुदा एजेंट्स, खुदरा विक्रेताओं और स्टॉकिस्टों की सेवाएं ली जा सकती हैं और किसानों को अनाज के भंडारण के एवज में मूल्य उत्प्रेरक दिए जा सकते हैं।" दस्तावेज में सुझाव दिया गया है कि विशाल बफर स्टॉक बनाए रखने की बजाय भारत को संकट के समय अंतर्राष्ट्रीय बाजार का सहारा लेना चाहिए : "गेहूं और चावल के भारी–भरकम बफर और चालू स्टॉक (यह भंडार फिलहाल 1.9 करोड़ टन हैं) न केवल महंगा सौदा साबित हो रहे हैं बल्कि वह गैरजरूरी भी हैं। एफसीआई की बदलती भूमिका और बाजार हस्तक्षेप के बदलते उद्देश्यों को देखते हुए यह बात और भी ज्यादा महत्वपूर्ण दिखाई देती है। भारत को अपनी खाद्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इसके मुकाबले बहुत छोटा बफर स्टॉक रखना चाहिए और जरूरत के समय अंतर्राष्ट्रीय बाजार का सहारा लेना चाहिए। इसके लिए भारत सरकार को संकट के सालों में अनाज खरीदने के लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा की भी व्यवस्था करनी चाहिए।"

इससे भी पहले 1990 में विश्व बैंक ने पीडीएस के दायरे को सीमित करने के लिए एक और दलील दी थी। उस वक्त बैंक ने कहा था कि इस व्यवस्था के तहत ऐसे लोग ज्यादा फल–फूल रहे हैं जो गरीब नहीं हैं। इस दलील का आकर्षण इस बात में था कि ऐसा कहते हुए बैंक गरीबों के प्रति हमदर्दी की मुद्रा में दिखाई दे रहा था : "खाद्य सब्सिडी कार्यक्रम का बुनियादी औचित्य एकदम सरल और अभेद्य दिखाई देता है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आंकड़ों से पता चलता है कि पिछले एक दशक में गरीबी के मोर्चे पर हुई उल्लेखनीय प्रगति के बावजूद देश के बहुत सारे लोग अभी भी 2200 कैलोरी प्रतिदिन के न्यूनतम आहार का भी जुगाड़ नहीं कर पा रहे हैं। सिद्धांततः खाद्य सब्सिडी इस जरूरत को पूरा करने का ही साधन है।" इसके साथ ही बैंक ने बड़े निर्दोष भाव से यह सुझाव भी दे डाला : "मगर इस प्रसंग में सब्सिडियों के लक्ष्य समूह का चुनाव और भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) की कार्यकुशलता भी महत्वपूर्ण मुद्दा बन जाते हैं। बहुत सारे मध्यम आयवर्गीय भारतीय भी 'उचित दर' दुकानों से रियायती दर पर खाद्य पदार्थ खरीद रहे हैं।" (इंडिया : ट्रेंड्स, इश्यूज, ऑप्शंस, मई 1990)। इस तरह, इन दस्तावेजों ने उस रास्ते की रूपरेखा तय कर दी जिस पर विविध भारतीय सरकारें पिछले 13 सालों से चल रही हैं।

उपभोक्ताओं को पीडीएस से बाहर खदेड़ना

नई आर्थिक नीतियों के लागू होने से पहले पीडीएस व्यवस्था के जरिए 1990–91 में 165 लाख टन खाद्यान्नों का वितरण किया गया था; मार्च 1991 के आखिर में शेष भंडार 158 लाख टन थे और खाद्य सब्सिडी जीडीपी का केवल 0.4 प्रतिशत थी। निस्संदेह, पीडीएस के तहत वितरित होने वाले अनाज की मात्रा बहुत मामूली थी – पूरे साल में केवल 20 किलोग्राम प्रति व्यक्ति के आसपास। अगर मान लिया जाए कि यह पूरा अनाज वाकई उन्हीं लोगों के बीच पहुंचा होगा जो अधिकृत रूप से गरीब माने जाते हैं तो भी यह पूरे साल में मात्र 50 किलोग्राम के आसपास बैठता है। इसका मतलब है कि पीडीएस की जरूरतों में कटौती करने की बजाय अगर गरीबों की जरूरतों को संजीदगी से "लक्ष्य" किया जाता (जैसा कि विश्व बैंक ने दावा किया था) तो पीडीएस के जरिए होने वाले वितरण में निश्चय ही इजाफा होता। मगर बैंक का असली इरादा गरीबों को इस व्यवस्था का फायदा पहुंचाना नहीं बल्कि गरीबों को इस व्यवस्था से बाहर निकालने का था।

बैंक के दिशानिर्देशों के तहत जो शुरुआती कदम उठाए गए उनमें एक फैसला ऐसा भी था जिसके तहत 1991–92, 1993–94 और 1994–95 में गेहूं और चावल का केंद्रीय निर्गम मूल्य (वह कीमत जिस पर अनाज केंद्रीय पूल से राज्य सरकारों को दिया जाता है) क्रमशः 2.34 रुपए प्रति किलोग्राम से बढ़ाकर 4.02 रुपए प्रति किलोग्राम और 2.89 रुपए प्रति किलोग्राम से बढ़ाकर 5.37 रुपए प्रति किलोग्राम कर दिया गया। यह गेहूं और चावल की कीमत में क्रमशः 72 और 86 प्रतिशत का इजाफा था। मगर सबसे भयानक हमला 1997–2000 की अवधि में बोला गया। इस दौरान लक्ष्यकेंद्रित सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (टीपीडीएस) के नाम पर पीडीएस उपभोक्ताओं को दो श्रेणियों में बांट दिया गया : "गरीबी की रेखा से नीचे" (बीपीएल) और "गरीबी की रेखा से ऊपर" (एपीएल)। एपीएल श्रेणी के उपभोक्ताओं के लिए सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के तहत मिलने वाली चीजों की कीमत बीपीएल श्रेणी के मुकाबले ज्यादा रखी गई।

इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि जो शासक "लाइसेंस–परमिट राज" की समाप्ति के नाम पर विशाल उद्योगों और वित्तीय क्षेत्र को तमाम बंधनों से आजाद करते जा रहे हैं, वही गरीबों को अपनी गरीबी का एक प्रमाणपत्र, एक परमिट हासिल करने पर भी विवश कर रहे हैं ताकि वह पीडीएस के दायरे में दाखिल हो सके। वैसे भी, राशन की एक ही दुकान पर एक ही चीज की दो अलग–अलग कीमतें धांधलेबाजी और भ्रष्टाचार को सीधा बुलावा थीं। बहुत सारे परिवारों को बीपीएल से निकाल कर एपीएल श्रेणी में रख देने का अधिकार निचले दर्जे के कर्मचारियों को सौंप देने का फैसला भी इसी तरह के भ्रष्टाचार को जन्म देता था।

राज्य सरकारें एक सोचे–समझे तरीके से लाखों लोगों को राशन की दुकानों से दूर खदेड़ने का काम करने लगीं। परिवारों को बीपीएल श्रेणी से बाहर रखने के प्रति बहुत सारे मनमाने और बेतुके संकेतक चुन लिए गए। मिसाल के तौर पर, अगर किसी परिवार

के पास पक्का मकान है, या उसके पास टेलीविजन है तो उसे बीपीएल श्रेणी में नहीं माना जा सकता है। मुंबई की विशालकाय झोपड़पट्टी बस्ती धारावी – जिसकी आबादी 5 लाख से भी ज्यादा है – में राशनिंग कंट्रोल अधिकारी ने केवल 365 परिवारों को बीपीएल कार्ड्स दिए। जब 1999 में दोबारा जांच की गई तो इन परिवारों की संख्या केवल 151 ही रह गई।[2] महाराष्ट्र सरकार ने गरीबी की रेखा का निर्धारण करने के लिए तय किया था कि अगर किसी परिवार की मासिक आय 1250 रुपए से कम होगी तो ही उसे "गरीबी की रेखा से नीचे" (बीपीएल) माना जाएगा अन्यथा वह "गरीबी की रेखा से ऊपर" (एपीएल) वाली श्रेणी में रखा जाएगा और उसे रियायती दर पर मिलने वाला राशन नहीं मिलेगा। (एक ताजा सर्वेक्षण से पता चलता है कि मुंबई की झोपड़पट्टियों में रहने वाले पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चे ठाणे जिले के लंबे समय से अकाल की मार झेल रहे आदिवासी ताल्लुका, जवाहर, के बच्चों से भी ज्यादा कुपोषित हैं। जवाहर वही ताल्लुका है जहां बच्चों की अकाल मृत्यु एक भयानक समस्या बन चुकी है।[3])

1996–97 (यानी टीपीडीएस से पहले) से अप्रैल 2000 के बीच सरकार ने एपीएल परिवारों के लिए राशन की दुकान पर मिलने वाली चीजों की कीमतें दोगुना कर दीं (गेहूं की कीमत 4.02 रुपए प्रति किलोग्राम से बढ़ाकर 8.30 रुपए प्रति किलोग्राम कर दी गई जबकि चावल की कीमत 5.37 रुपए प्रति किलोग्राम से बढ़ाकर 11.30 रुपए प्रति किलोग्राम कर दी गई)। इस प्रकार अप्रैल 2000 तक एपीएल परिवारों को मिलने वाले अनाज पर दी जा रही सब्सिडी पूरी तरह खत्म कर दी गई। कई मामलों में तो एपीएल तबके के लिए तय कीमतें खुले बाजार में प्रचलित कीमतों से भी ज्यादा थीं। हालांकि टीपीडीएस का कथित मकसद गरीबों को लाभ पहुंचाना था मगर अंततः गरीब बीपीएल उपभोक्ता भी सरकारी डंडे की मार से नहीं बच पाए : टीपीडीएस के पहले साल में उन्हें गेहूं और चावल क्रमशः 2.50 रुपए और 3.50 रुपए प्रति किलो की कीमत पर मिलते थे जिनकी कीमत अप्रैल 2000 में क्रमशः 4.15 रुपए और 5.65 रुपए प्रति किलोग्राम कर दी गई।

इसका मतलब है कि नब्बे के दशक में अनाज की कीमतें सामान्य मूल्य स्तर के मुकाबले कहीं ज्यादा तेजी से बढ़ी हैं। 1991 से पहले का रुझान इससे उलट था। दीर्घकालिक अनाज नीति आयोग की रिपोर्ट में दी गई गणनाएं इस प्रकार हैं : 1975–76 से 1990–91 के बीच अनाज की कीमतें सामान्य मूल्य स्तर की तुलना में 27.1 प्रतिशत गिर गईं; 1990–91 से 1999–2000 के बीच, यानी नई आर्थिक नीति के दौर में अनाज की कीमतों में गिरावट की बजाय 30 प्रतिशत का इजाफा हुआ।

विशालकाय अनाज भंडारों की आड़ में पीडीएस के खिलाफ साजिश

क्योंकि एपीएल कार्डधारकों को पीडीएस व्यवस्था के तहत चीजें खरीदने में कोई फायदा नहीं था इसलिए 2000–01 में एपीएल तबके के परिवारों ने इस व्यवस्था के तहत महज

21 लाख टन ही अनाज खरीदा। इस तरह विश्व बैंक द्वारा थोपी गई नीति का सीधा नतीजा यह हुआ कि दिसंबर 1997 में अनाज के जो भंडार केवल 183 लाख टन थे वह दिसंबर 1998, दिसंबर 1999, दिसंबर 2000 और दिसंबर 2001 में क्रमशः 244, 314, 457 और 580 लाख टन तक पहुंच गए।

जाहिर है कि लोगों की पहुंच से बाहर कर दिए गए अनाज के इस विशाल भंडार की सार–संभाल भी एक महंगा काम था। नतीजतन, खाद्य सब्सिडी के मद में होने वाला खर्चा 1996–97 के 6,066 करोड़ रुपए से बढ़ते–बढ़ते 2000–2001 में 12,060 करोड़ रुपए तक जा पहुंचा। यानी चार साल में यह खर्चा दोगुना हो गया। इसके बाद, 2000–2001 से 2002–03 तक यह एक बार फिर दुगने से भी ज्यादा बढ़कर 24,200 करोड़ रुपए तक जा पहुंचा। 1990–91 में नई आर्थिक नीतियों के लागू होने से पहले इस मद में जीडीपी का केवल 0.4 प्रतिशत खर्च हो रहा था मगर अब खाद्य सब्सिडी के नाम पर होने वाला यह खर्चा तकरीबन 1 प्रतिशत तक पहुंच गया। दीर्घकालिक अनाज नीति समिति के मुताबिक, "खाद्य सब्सिडी का तकरीबन आधा भाग खाद्य सुरक्षा के लिए जरूरी बफर स्टॉक से भी ज्यादा मात्रा में बच जाने वाले भंडारों के रखरखाव पर खर्च हो रहा है।"

सतही तौर पर यह अजीब बात लगती है कि विश्व बैंक द्वारा निर्देशित नीतियों से अनाज के भंडारों में अकल्पनीय इजाफा हुआ है क्योंकि विश्व बैंक ने तो बफर स्टॉक में कटौती की बात कही थी। मगर यह परिणाम विश्व बैंक की योजनाओं के खाके में बिल्कुल सही बैठता है। इस घटनाक्रम के बाद सरकार ने ये दलील देना शुरू कर दिया कि अब हमें पीडीएस की जरूरत ही नहीं है – हमारे पास खूब अनाज है। अधिकृत आर्थिक सर्वेक्षण 2001–02 में "अनाज के भंडार – बहुतायत की समस्या" शीर्षक के तहत "मांगपक्षीय कारकों" पर चर्चा की गई क्योंकि अनाज भंडारों में इस भयानक इजाफे के लिए कथित रूप से यही कारक जिम्मेदार थे। सर्वेक्षण में उल्लिखित "मांगपक्षीय" कारकों में इस बात का भी उल्लेख था कि अनाज उत्पादन की वृद्धि दर जनसंख्या वृद्धि दर से आगे निकल गई है। (सरकार का यह दावा सिरे से झूठा है और इस बात को सर्वेक्षण के उसी पृष्ठ पर दी गई टेबल से भी समझा जा सकता है जिसमें साफ बताया गया है कि 1990–91 से 2000–01 के बीच प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन में 16.9 किलोग्राम की गिरावट आई है।)

इस कथित "बहुतायत" का दूसरा कारण यह बताया गया कि "हिंदुस्तानी अब अनाज कम और गैर–अनाज खाद्य वस्तुएं" जैसे फल, सब्जियां, दूध, मछली, अंडे, आदि ज्यादा मात्रा में खाने लगे हैं। इस आधार पर दलील यह दी गई कि "ग्रामीण और शहरी, दोनों तरह की भारतीय आबादी के बदलते उपभोग रुझानों को देखते हुए अब उन राज्यों में गैर–अनाज खाद्य पदार्थों के उत्पादन पर ज्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए जहां इन उत्पादों के लिए बेहतर उत्पादक परिस्थितियां उपलब्ध हैं।" साथ ही सर्वेक्षण में यह आग्रह भी किया गया कि इन "भंडारों को खत्म करने" के लिए कदम उठाए जाएं। इन

भंडारों से छुटकारा पाने का एक विकल्प यह था कि यह अनाज एफसीआई को पड़ने वाली "लागत से काफी कम कीमत पर" अनाज व्यापारियों को बेच दिया जाए। दूसरा रास्ता यह था कि "लागत से बहुत कम कीमत पर अनाज का निर्यात कर दिया जाए"। (देखें चार्ट 3, जनसंख्या के निचले 30 प्रतिशत हिस्से में कैलोरी उपभोग)।

अनाज के गिरते उपभोग के लिए कुछ कथित अर्थशास्त्रियों ने एक और कारण भी बताया। उन्होंने कहा कि अब हमारे लोग मेहनत ही नहीं करते। यानी लोगों की औसत शारीरिक सक्रियता कम हो गई है इसलिए अब उन्हें उतनी कैलोरी की जरूरत नहीं है। मगर शारीरिक सक्रियता में कमी या कैलोरी की आवश्यकता में कमी के इस दावे के समर्थन में किसी चिकित्सकीय अध्ययन का उल्लेख नहीं किया गया। कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क भी दे डाला कि जिन लोगों का खाद्य उपभोग बहुत कम है (न्यूनतम पोषण मानकों से भी बहुत कम) वह सब कुछ जानते–बूझते हुए भी अखाद्य वस्तुओं पर ज्यादा व्यय कर रहे हैं क्योंकि अपने कुशलक्षेम के लिए अब उन्हें खाद्य पदार्थों की बजाय अखाद्य पदार्थ ज्यादा महत्वपूर्ण दिखाई देने लगे हैं। क्योंकि इस तरह के अर्थशास्त्री अपने शासकों के हितसाधन के लिए इस तरह के कचरा सिद्धांतों की पैदावार में ही प्रशिक्षित और सिद्धहस्त हैं इसलिए उनके इन बेतुके दावों पर हमें आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए।

इन प्रख्यात अर्थशास्त्रियों में से किसी ने भी इस बात का सीधा–सीधा जवाब नहीं दिया कि हमारे अनाज भंडार बढ़ते क्यों जा रहे हैं। वह यह नहीं कहते कि मूल्य वृद्धि और आजीविका के स्रोतों में क्षरण के कारण ही समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा अनाज का खर्चा तक बर्दाश्त करने की हालत में नहीं बचा है। बढ़ती गैरबराबरी को देखते हुए उच्च मूल्य अनाज की मांग में गिरावट (गरीबों की ओर से कम मांग) और उच्च गुणवत्ता खाद्य पदार्थों की मांग में इजाफे (संपन्न वर्ग की ओर से ज्यादा मांग) को समझना मुश्किल नहीं है।[4]

टेबल 1 से पता चलता है कि विकसित देशों में शारीरिक श्रम का स्तर कम होते हुए भी वहां प्रति व्यक्ति कैलोरी उपभोग भारत के मुकाबले बहुत ज्यादा है। बल्कि सच तो यह है कि हमारा प्रति व्यक्ति कैलोरी उपभोग विकासशील देशों और यहां तक कि अफ्रीका के औसत से भी काफी कम है। भारत का प्रति व्यक्ति कैलोरी उपभोग दुनिया के न्यूनतम विकसित देशों के स्तर पर पहुंच गया है।

किसानों को संबोधित करते हुए खुद वाजपेयी ने भी "बदलती रुचियों" या "बदलती जीवनशैली" की दलील में ज्यादा सिर नहीं खपाया बल्कि उन्होंने सीधे–सीधे शब्दों में कहा कि अब किसानों को वैश्विक प्रतिस्पर्धा से मुकाबले के लिए तैयार रहना होगा। 6 मार्च 2001 को हरियाणा में किसानों के सामने भाषण देते हुए उन्होंने आह्वान किया कि अब वह "गेहूं और धान से आगे देखें" और "बागवानी, फूलों की खेती, तिलहन एवं सब्जी उत्पादन पर ज्यादा ध्यान दें और निर्यात संभावनाओं का लाभ उठाएं।" उन्होंने साफ

टेबल 1:
विश्व के विभिन्न भागों में खाद्य उर्जा का वितरण, 1994

	खाद्य ऊर्जा किलो–कैलोरी / दिन
विश्व	**2718**
विकसित देश	**3206**
औद्योगिक देश	**3356**
उत्तरी अमेरिका, विकसित	**3591**
ओशियानिया, विकसित	**3123**
पश्चिमी यूरोप	**3398**
विकासशील देश	**2573**
अफ्रीका, विकासशील	**2336**
एशिया, विकासशील	**2660**
लैटिन अमेरिका, विकासशील	**2732**
न्यूनतम विकसित देश	**2013**
"भारत (1999–2000)	**2030"**

एफएओ स्टेट (FAOSTAT) पर आधारित। दि कैम्ब्रिज वर्ल्ड हिस्ट्री ऑफ फूड, खंड I, सं., कैनेथ एफ. किप्ले तथा के. सी. ऑर्नेल्स, पृष्ठ 899. भारत से संबंधित आंकड़े महेंद्र देव एवं इवेन्सन, "रूरल डिवेलपमेंट इन इंडिया", भारतीय नीति सुधार सम्मेलन, स्टेनफोर्ड, जून 2003 से।

कहा कि किसानों को अंतर्राष्ट्रीय बाजार के बढ़ते दबावों के हिसाब से खुद को तैयार करना होगा। उन्होंने कहा कि डब्ल्यूटीओ के तहत मात्रात्मक प्रतिबंधों की समाप्ति के बाद अब उन्हें खाद्य पदार्थों की पैदावार पर कम और दूसरी फसलों की खेती पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए, तभी वह मुक्त बाजार व्यवस्था का सही अर्थों में लाभ उठा पाएंगे। इस प्रकार, कुल मिलाकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि **अनाज उत्पादन में वृद्धि को हतोत्साहित करने की नीति भी 'वैश्वीकरण' का ही हिस्सा है।**

पीछे हमने इस बात का ब्यौरा दिया है कि किस प्रकार 1991 के बाद कीमतें बढ़ती गईं और खासतौर से 1997–2000 के दौरान टीपीडीएस के लागू होने के बाद राशन की दुकानों से बिकने वाले अनाज की मात्रा में कितनी भारी गिरावट आई है। यहां एक और तथ्य – सिकुड़ती आर्थिक गतिविधियां और बढ़ती बेरोजगारी – भी ध्यान देने लायक है जिसने इस परिणाम को जन्म देने में अहम योगदान दिया है।

सन् 1994–95 से 1996–97 के बीच तीन साल के तेज विकास के बाद अगले पांच सालों में विनिर्माण के क्षेत्र में होने वाली प्रगति आधी भी नहीं रह गई। 1980–81 से 1989–90 के दशक में वार्षिक कृषि वृद्धि दर औसतन 5.2 प्रतिशत थी जो 1993–94 से 2002–03 की अवधि में केवल 0.4 प्रतिशत रह गई (आरबीआई एन्युअल रिपोर्ट 2002–03)। जैसा कि हमने पीछे देखा है रोजगार वृद्धि दर धराशायी हो गई और दिहाड़ी रोजगारों का हिस्सा तेजी से बढ़ता गया। इन सारी बातों का मतलब है कि लोगों के

पास अपनी बुनियादी जरूरत की चीजों पर खर्च करने के लिए अब पहले से भी कम पैसा रह गया।

वर्ष 2001 के बाद सरकार ने एपीएल तबके के लिए पीडीएस की कीमतों में भारी कटौती कर दी और बीपीएल तबके के लिए कोटा बढ़ा दिया ताकि जरूरत से ज्यादा भंडारों को ठिकाने लगाया जा सके। नतीजा यह हुआ कि 2001–02 में टीपीडीएस के जरिए केवल 111 लाख टन अनाज बिका था जबकि 2002–03 में उसकी मात्रा सीधे 201 लाख टन पर जा पहुंची (निस्संदेह सरकार का यह फैसला इस बात से भी तय हो रहा था कि 2004 के आम चुनाव नजदीक आने लगे थे)। मगर कीमतों में भारी कमी के बावजूद बेरोजगारी और गरीबी की वजह से लोग ज्यादा अनाज नहीं खरीद पाए। क्रयशक्ति में कमी के दुष्परिणामों को इस तथ्य ने और बढ़ा दिया कि टीपीडीएस व्यवस्था के लागू होने के बाद राशन की बहुत सारी दुकानें बंद हो चुकी थीं क्योंकि उनमें फायदा नहीं हो रहा था इसलिए जब कीमतें कम हो गईं तो भी उनका लाभ उठाने के लिए लोगों के पास जरिया ही नहीं था।

क्रयशक्ति में कमी और पहुंच का अभाव – इन दो रुकावटों से निपटने के लिए काम के बदले भोजन योजनाएं बड़े पैमाने पर चलाई जा सकती थीं। अगर इस तरह के कार्यक्रम चलाए जाते तो ग्रामीण इलाकों में उत्पादक संसाधनों का भी निर्माण होता। जाहिर है कि सरकार के पास इस किस्म के कार्यक्रम को बड़े पैमाने पर चलाने के लिए अनाज की कोई कमी भी नहीं थी। एक जनहित याचिका पर व्यवस्था देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने भी आदेश दिया था कि इन विशाल भंडारों का इस्तेमाल स्कूलों में बच्चों को दोपहर का भोजन खिलाने के लिए किया जाए। पिछले सालों के दौरान सरकार ने इस तरह के कार्यक्रमों के लिए पहले से कहीं ज्यादा भंडारों का आबंटन भी किया है। 2001–02 में कल्याणकारी योजनाओं के तहत वितरित होने वाले अनाज की मात्रा 32 लाख टन थी जो 2001–02 में 72 लाख टन और अप्रैल से दिसंबर 2002 के बीच 75 लाख टन तक पहुंच गई।

मगर पीडीएस और काम के बदले अनाज या कल्याणकारी योजनाओं के जरिए अधिशेष भंडारों से छुटकारा पाने की कोशिश में सरकार (और उसकी नीतियां तय करने वाले, जैसे विश्व बैंक) के लिए एक खतरा भी निहित था। असल में पीडीएस को धराशायी करने की उनकी दशक भर लंबी कोशिशें अभी सिर्फ पूरी ही हो पाई थीं। इस तरह के विशाल कार्यक्रम से लोगों में दोबारा इस आशय की उम्मीदें पैदा होने का खतरा था कि सरकार सस्ती कीमत पर अनाज मुहैया कराने और नए–नए रोजगार पैदा करने के कार्यक्रम आगे भी इसी तरह चलाती रहेगी। मगर सरकार की योजनाओं में ग्रामीण स्तर पर इस तरह की श्रम योजनाओं के लिए कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि सरकार तो किसी भी तरह अपने तमाम सार्वजनिक दायित्वों से छुटकारा और कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश को तेजी से खत्म करना चाहती है। इसलिए सरकार ने इस विकल्प का चुनाव करने की बजाय ये ज्यादा बेहतर माना कि गेहूं और चावल का रियायती दरों पर निर्यात

कर दिया जाए। इसी तर्ज पर सरकार ने बहुत सारा अनाज रियायती दर पर घरेलू व्यापारियों को भी बेच दिया। (देखें पादटिप्पणी : "सारा अनाज कहां गया")।

अब सरकार के पास मौजूद अनाज भंडार काफी सीमित स्तर तक पहुंच गए हैं। पीडीएस और अन्य कल्याणकारी योजनाओं के जरिए होने वाले अनाज वितरण में वृद्धि, बहुत सारे अनाज को रियायती दरों पर निर्यातकों व घरेलू व्यापारियों को बेचकर और अनाज की भारी पैमाने पर हो रही चोरी से आंख मूंद कर सरकार ने रिकार्ड तेजी के साथ अनाज के विशालकाय भंडार को जमीन पर ला दिया है। अप्रैल 2002 से नवंबर 2003 के बीच कल्पनातीत 779 लाख टन अनाज इसी तरह ठिकाने लगा दिया गया। इस प्रकार नवंबर 2003 में प्रारंभिक भंडार केवल 221 लाख टन रह गया। उस समय चावल के भंडार तो न्यूनतम बफर स्टॉक से भी कम था!

चुनावों के बाद चाहे जो पार्टी सत्ता में आए, पीडीएस को खत्म करने की मुहिम यथावत जारी रखेगी। शासक इस बात को लेकर पूरी तरह आश्वस्त हैं कि वह आंकड़ों की इन बाजीगरी और अनाज की मांग में गिरावट का दिखावा करके इस काम को आसानी से अंजाम दे सकते हैं। वस्तुतः अनाज की जरूरत गरीबों को ही सबसे ज्यादा है इसलिए अगर गरीबी और गैरबराबरी में वृद्धि होती है तो अनाज की मांग में भी गिरावट आना तय है। क्योंकि अनाज की मांग गरीब राज्यों में ज्यादा है इसलिए अगर क्षेत्रीय गैरबराबरी में वृद्धि हुई तो भी अनाज की मांग में गिरावट आएगी। क्योंकि अनाज की प्रति व्यक्ति मांग शहरी इलाकों में ज्यादा है इसलिए अगर विकास की प्रक्रिया शहरों के संपन्न तबके तक ही सीमित रही तो भी अनाज की मांग गिरेगी। कहने का मतलब यह है कि **'उदारीकरण' के तहत विभिन्न वर्गों, क्षेत्रों और शहरी व ग्रामीण इलाकों के बीच गैरबराबरी को बढ़ाने वाली जो प्रक्रिया चल रही है उससे ऐसे लोगों की क्रय शक्ति में कमी आएगी जिनके आहार में अनाज की मात्रा ज्यादा होती है और फलस्वरूप अनाज की मांग गिरती दिखाई देगी। अनाज की जरूरत तो फिर भी बनी रहेगी मगर क्योंकि लोगों के पास क्रय शक्ति नहीं होगी इसलिए यह जरूरत हमें दिखाई नहीं देगी।**

आधी आबादी अर्द्ध–भुखमरी की हालत में

पीडीएस व्यवस्था की समाप्ति और खाद्य उपभोग में कमी के व्यापक निहितार्थों को समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि हमारे देश में लोगों की शारीरिक क्षमता पहले ही अत्यंत दयनीय हो चुकी है। विभिन्न संकेतकों से पता चलता है कि देश की तकरीबन आधी आबादी केवल इस वजह से शारीरिक रूप से सामान्य से कम स्तर पर जी रही है क्योंकि उसके पास पर्याप्त भोजन नहीं है :

(1) **नेशनल न्यूट्रीशन मॉनीटरिंग ब्यूरो के 1993–94 के सर्वेक्षण से पता चलता है कि देह भार (बॉडी मास) सूचकांक के पैमाने पर *48.5 प्रतिशत भारतीय वयस्क कुपोषण का शिकार हैं।***

(2) राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण (एनएफएचएस) 1998–99 में तीन वर्ष से कम उम्र के बच्चों में कुपोषण को मापने के लिए विभिन्न संकेतकों का इस्तेमाल किया गया है : (i) उम्र के हिसाब से वजन (जिससे पता चलता है कि वह स्थायी और भारी कुपोषण का शिकार हैं), (ii) उम्र के हिसाब से लंबाई (जिससे पता चलता है कि वह स्थायी कुपोषण या अवरुद्ध विकास के शिकार हैं), तथा (iii) लंबाई के हिसाब से वजन (जिससे पता चलता है कि सर्वेक्षण से पहले की अवधि में वह भारी कुपोषण का शिकार थे या उनका वजन नहीं बढ़ रहा था)। उम्र के हिसाब से वजन के पैमाने का इस्तेमाल करने पर पता चला कि 47 प्रतिशत बच्चे कुपोषण का और 18 प्रतिशत बच्चे गंभीर कुपोषण का शिकार हैं। उम्र के हिसाब से लंबाई की जांच करने पर पता चला कि 45.5 प्रतिशत बच्चों की लंबाई नहीं बढ़ रही है और 23 प्रतिशत बच्चों के मामले में भी स्थिति अत्यंत गंभीर रूप ले चुकी है। लंबाई के अनुसार वजन का अध्ययन करने पर पता चला कि 15.5 प्रतिशत बच्चों का वजन लंबाई के हिसाब से कम है। इन संकेतकों की कसौटी पर भारतीय बच्चों की स्थिति उप–सहारा अफ्रीका के बच्चों के मुकाबले कहीं ज्यादा भयानक दिखाई देती है जबकि अफ्रीका का यह हिस्सा दुनिया के सबसे गरीब इलाकों में शुमार किया जाता है। शर्म की बात यह है कि ऐसी स्थिति भारत में, यानी एक ऐसे देश में है, जो इन बच्चों को इस कुपोषण से मुक्ति दिला सकता है।[5]

अनुमान लगाया जा सकता है कि इन संकेतकों के हिसाब से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और निम्न जीवनस्तर वाले तबकों की महिलाओं और बच्चों की स्थिति और भी खराब होगी। इस बात को कहने की जरूरत नहीं है कि बच्चे के पोषण की स्थिति मां के पोषण की स्थिति से मजबूती से जुड़ी होती है। उन माताओं के बच्चों में कुपोषण की समस्या ज्यादा बड़े पैमाने पर पाई गई जिनकी लंबाई 145 सेंटीमीटर से भी कम है या जिन बच्चों का देह भार सूचकांक 18.5 से भी कम है।

दीर्घकालिक अनाज नीति रिपोर्ट में "इस आशय के साक्ष्यों का जिक्र किया गया है जिनसे पता चलता है कि उम्र के हिसाब से वजन और लंबाई की कसौटी पर बच्चों के कुपोषण और अनाज अभावग्रस्त राज्यों में प्रजनन क्षमता व वयस्क मृत्यु दर में अचानक आए बदलावों की कसौटी पर दिखने वाले तीखे जनसांख्यिकी दबाव के परिणाम सत्तर और अस्सी के दशकों के मुकाबले नब्बे के दशक में कहीं ज्यादा अजीबोगरीब रहे हैं।"[6]

जैसा कि हमने पीछे उल्लेख किया था, राष्ट्रीय पोषण संस्थान (एनआईएन) द्वारा निर्धारित न्यूनतम 157 किलोग्राम अनाज प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष के मानक को देखते हुए यह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि एक स्वस्थ समाज के लिए यह औसत इस मानक से कहीं ऊपर होना चाहिए। मगर मौजूदा प्रति व्यक्ति उपभोग (1998 में 145 किलोग्राम प्रतिवर्ष

और बाद के सालों में और भी कम) स्तर से पता चलता है कि ज्यादातर लोग न्यूनतम मात्रा में भी अनाज का उपभोग नहीं कर पा रहे हैं। ऐसे हालात में यह दलील देना निर्लज्जता भरा है कि हमारे पास अनाज की पैदावार जरूरत से ज्यादा हो गई है। सरकार यही तर्क दे रही है।

यहां इस बात को दर्ज करना जरूरी है कि दीर्घकालिक अनाज नीति रिपोर्ट के अनुसार एनआईएन मानकों में अनाज की जरूरत को कम करके आंका गया है क्योंकि उसमें यह मान लिया गया है कि हमारे लोग काफी विविधतापूर्ण आहार लेते हैं जबकि भारतीय लोगों के भोजन में इतनी विविधता नहीं होती। रिपोर्ट में कहा गया है कि भारतीयों के आहार व्यय में अनाज का हिस्सा 33 प्रतिशत होता है और 65 प्रतिशत कैलोरी एवं प्रोटीन उसी से मिलते हैं। इसका मतलब है कि बाकी खाद्य पदार्थों के मुकाबले अनाज पोषण का कहीं ज्यादा सस्ता स्रोत है और अनाज के स्थान पर अन्य खाद्य पदार्थों की ओर जबरिया विचलन का मतलब यही होगा कि लोग कैलोरी और प्रोटीन की मात्रा पर समझौता करने लगें। गरीबों (देश की आबादी का निचला 40 प्रतिशत) के आहार बजट का एक तिहाई हिस्सा अनाजों पर खर्च हो रहा है मगर उनके पोषण का तीन चौथाई उसी से मिलता है। (देखें चार्ट 4, निर्धनतम 40 प्रतिशत का अनाज उपभोग, ग्रामीण)।

ग्रामीण भुखमरी का विकृत चेहरा

भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से के जीवन में भुखमरी एक व्यापक और स्थायी पहलू है। स्थिति यह है कि अब इस परिघटना की रिपोर्टिंग भी जरूरी नहीं मानी जाती और जिनकी उपभोग क्षमता बहुत कम है वह इन हालात को सामान्य मानकर संतोष कर लेते हैं। देश के बहुत सारे हिस्सों में भुखमरी की वास्तविक स्थिति का अंदाजा मुंबई महानगर से केवल कुछ घंटों की यात्रा करके लगाया जा सकता है। महाराष्ट्र के आदिवासी इलाकों में असंख्य लोग सामान्य रूप से अर्द्ध–भुखमरी के हालात में जी रहे हैं। वे एकदम कगार पर है, बस नीचे गिरने के लिए एक धक्का ही काफी है।

इस बात का साक्ष्य विश्व बैंक द्वारा सुझाए गए 'सुधारों' की दहलीज पर ही दिखाई देने लगा था। अमरावती जिले के मेलघाट इलाके में एकीकृत बाल विकास योजना (आईसीडीएस) के तहत दूध पिलाने वाली माताओं और शिशुओं को गेहूं से बनने वाला सुकड़ी नामक आहार दिया जाता था। जब 1991 और 1992 में गेहूं की कीमतें बढ़ा दी गईं तो सुकड़ी बेचने वाली कंपनी मार्कफेड ने भी ज्यादा कीमत की मांग पेश कर दी। राज्य सरकार ने कीमत बढ़ाने की बजाय यह योजना ही बंद कर दी। इस फैसले के फलस्वरूप 1993 के मानसून में कितने बच्चे मारे गए, इस बारे में अलग–अलग अनुमान व्यक्त किए गए हैं। सरकार की राय में ऐसे अभागे बच्चों की संख्या 316 थी जबकि नागपुर यूनियन ऑफ वर्किंग जर्नलिस्ट्स के मुताबिक ऐसे बच्चों की संख्या 800 थी। एक छोटा सा बदलाव ऐसे भयानक परिणामों को जन्म दे सकता है – यह बात इस तथ्य की

ओर इशारा करती है कि महाराष्ट्र में आदिवासियों की स्थिति कितनी नाजुक है।

इस तरह की घटनाओं का अचानक जिस तरह प्रचार हो जाता है और एक छोटी सी अवधि में मंत्रियों और सरकारी अमले की तरफ से ऐसे इलाकों को जिस तरह रातोंरात ध्यानाकर्षण का केंद्र बना दिया जाता है उसके बावजूद मीडिया में भुखमरी के कारण होने वाली मौतों के सिलसिले में बार–बार वही नाम गूंज रहे हैं : मेलघाट, जवाहर, मोखड़ा, वाड़ा, नंदुरबार, फुले – तमाम आदिवासी इलाके। मरने से बच गए प्रभावितों की संख्या और ज्यादा है। अप्रैल 2000–मार्च 2000 के बीच नंदुरबार में छह साल से कम उम्र के 1,385 बच्चे मारे गए। अधिकारियों ने स्वीकार किया कि इनमें से ज्यादातर बच्चे कुपोषण की वजह से मरे थे।[7] मीडिया में खबर आई कि राज्य के छह आदिवासी बहुल जिलों में 1999–2000 के दौरान 6,000 बच्चों की मौत हुई थी। 2000–01 में मरने वाले बच्चों की संख्या 8,000 बताई गई। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक दोनों साल 3500–3500 बच्चे मरे थे।[8] ठाणे में अप्रैल से अगस्त 2002 के बीच 494 बच्चे कुपोषण के कारण मरे बताए गए।[9] सितंबर 2003 में नंदुरबार में 15 और बच्चे इसी तरह मारे गए।[10]

हालांकि यह बात सही है कि भुखमरी के कारण होने वाली मौतों के बारे में सिर्फ संवाददाताओं द्वारा जुटाए गए आंकड़ों पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता मगर सरकारी आंकड़ों पर भी बहुत भरोसा करना अक्लमंदी की बात नहीं होगी क्योंकि सरकारें तो सच्चाई को दबाने की ज्यादा ही कोशिश करती हैं। जब दिसंबर 2001 में जनजातीय शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान (टीआरटीआई) के आयुक्त अरुण भाटिया ने नंदुरबार में आदिवासी बच्चों की मौत का अध्ययन किया तो उन्होंने पाया कि प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों ने 57 प्रतिशत मौतों को दर्ज करना तक जरूरी नहीं समझा (सर्च एजेंसी द्वारा दो वर्ष तक किए गए सर्वेक्षण का निष्कर्ष है कि महाराष्ट्र में शिशुओं की 70 प्रतिशत मौतों का कहीं रिकार्ड नहीं रखा जाता है)। और हकीकत को छिपाने का आदेश सीधे मंत्रियों की तरफ से आता है। वह अथक इस बात को दोहराते जाते हैं कि कोई भी मौत कुपोषण का परिणाम नहीं है, ये मौतें किशोर प्रसवता, शिशुओं के प्रसव में परंपरागत तौर–तरीकों के प्रयोग, जीवन परिस्थितियों में अस्वच्छता, निरक्षरता, "ओझाओं" के प्रति आदिवासियों की आस्था आदि–आदि का परिणाम हैं। फलस्वरूप, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में कार्यरत चिकित्सक भी कुपोषण को जिम्मेदार न ठहराने के आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करते चले जाते हैं। मिसाल के तौर पर, ठाणे के वड़ा ताल्लुका में जब भुखमरी के कारण हो रही मौतों का विवाद तूल पकड़ता जा रहा था, तभी वहां मरे 84 प्रतिशत बच्चों की मृत्यु का कारण "हृदय–श्वास तंत्र की विफलता" बताया गया। जब टीआरटीआई (जो सरकारी संस्था है और एक आईएएस अधिकारी की देख–रेख में काम करती है) ने अपनी जांच के आधार पर विस्तारपूर्वक बताया कि 2001 में नंदुरबार में और 2002 में वड़ा में मारे गए बच्चों की मौत कुपोषण का ही परिणाम थी तो राज्य सरकार ने भाटिया को नोटिस थमा दिया कि उन्होंने जनजाति विकास एवं जनस्वास्थ्य मंत्रियों के बयानों पर उंगली उठाने का साहस कैसे दिखा दिया!

जो बात पूरे देश के बारे में सही है वही कमोबेश देश के अलग–अलग संवेदनशील इलाकों के बारे में भी सही है। इन इलाकों में भी गरीबी के कारण अनाज की मांग घट गई है। वैसे तो आसपास स्थित ज्यादातर राशन की दुकानों में भी अनाज उपलब्ध था मगर आदिवासियों के पास अनाज खरीदने के लिए पैसा ही नहीं था। वडा में हुई मौतों पर टीआरटीआई द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट में कहा गया है कि भुखमरी के कारण मारे गए बच्चों की मांओं ने "कहा कि उनके पास अनाज खरीदने के लिए पैसे ही नहीं थे। सरकार का दावा है कि आदिवासी इलाकों में स्थित उचित मूल्य दुकानों में अनाज की कोई कमी नहीं है। मगर दुकानों में पड़े अनाज का क्या फायदा जब स्थानीय समुदाय के पास क्रय शक्ति ही नहीं है?" बड़ी अजीब बात है कि राज्य की खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति सचिव नीला सत्यनारायण ने भी राज्य सरकार का बचाव करते हुए यही बात कही थी : "आदिवासी उचित दर दुकानों से अनाज नहीं ले रहे हैं क्योंकि वह बहुत गरीब हैं या मानसून के कारण वह दुकानों तक नहीं जा पा रहे हैं। ये मौतें हमारी ओर से किसी विफलता का परिणाम नहीं हैं (सिक)। मई में ही हमने यह सुनिश्चित करने के लिए अधिसूचना जारी कर दी थी कि सर्वाधिक प्रभावित इलाकों में 5 जून तक इतना अनाज उपलब्ध करा दिया जाए जिससे अगले तीन माह तक अनाज की कोई कमी न रहे। यह समस्या अनाज की कमी के कारण नहीं बल्कि गरीबी के कारण पैदा हुई है। "[11]

अनाज की मांग के मोर्चे पर भारी कमी ही भारतीय देहात का असली चेहरा है।

सरकारी खरीद और पीडीएस व्यवस्था के विखंडन का परिणाम

अनाज के उपभोग में कमी और आहार में कथित विविधता के तथ्य का सहारा लेते हुए, विश्व बैंक के दृष्टिकोण के हक में आवाज उठाने वालों ने दीर्घकालिक अनाज नीति समिति के सामने भी अपना नजरिया रखना जरूरी समझा : "समिति को इस आशय की राय पर विचार करना ही पड़ा कि मौजूदा व्यवस्था को बचाए रखने की कोई जरूरत नहीं है और वर्तमान संकट वस्तुतः न केवल न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) से बल्कि सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (पीडीएस) से भी छुटकारा पा लेने का एक अच्छा मौका हो सकता है। इसके बाद भारतीय खाद्य निगम की भूमिका को सीमित बफर स्टॉक के रख–रखाव की भूमिका सौंपी जा सकती है"। जाहिर है कि ऐसे में उपभोक्ताओं तक अनाज पहुंचाने की जिम्मेदारी को निजी व्यापारियों को सौंप देने के अलावा और कोई रास्ता नहीं होगा।

हमें कितना बफर स्टॉक बनाए रखना चाहिए, इस आशय के मानकों में भी कमी की वकालत की जा रही है क्योंकि अब हमारे पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा भंडार उपलब्ध है जिसके जरिए यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि अनाज की कमी से निपटने के लिए सरकार अंतर्राष्ट्रीय बाजार का सहारा ले। हालांकि दीर्घकालिक अनाज नीति समिति की रिपोर्ट में इसके खिलाफ सिफारिश दी गई है मगर यह स्पष्ट है कि सरकार ठीक इसी दिशा में बढ़ रही है हालांकि फिलहाल चुनावों को देखते हुए, इस विषय में उठाए

जाने वाले अगले कदमों को स्थगित कर दिया है।

इस तरह के कदम के परिणाम क्या होंगे?

पहला, सरकारी एजेंसियों को बाजार से बेदखल कर देने के बाद सरकारी खरीद वाले प्रमुख इलाकों, यथा, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी किसानों को मिलने वाली कीमतें धराशायी हो जाएंगी। समिति ने 2002 में अनुमान लगाया था कि "मूल्य सहायता के बिना गेहूं या चावल की खेती स्तरीय कीमत 350 रुपए प्रति क्विंटल को भी पार नहीं कर पाएगी जो कि ज्यादातर राज्यों में पिछले साल उन्हें मिली कीमत से भी कम होगा और उत्पादन की लागत से भी कम होगा (इस लागत में पारिवारिक श्रम, जमीन और पूंजी की लागतों को जोड़ लेना आवश्यक है)।" ऐसे में गेहूं और चावल के किसानों को 2001 में 30,000 करोड़ रुपए से ज्यादा का नुकसान तत्काल उठाना पड़ता। इन किसानों की नियति को इस तथ्य से समझा जाता है कि, जैसा कि रिपोर्ट में कहा गया है, "पूर्वी भारत के बहुत सारे उन हिस्सों में, जहां मूल्य समर्थन कार्यक्रम प्रभावी नहीं हैं, अब उत्पादकों को मिलने वाली कीमत उत्पादन की लागत से भी नीचे जा चुकी है।" नब्बे के दशक में पूर्वी भारत के अनाज उत्पादन में प्रति व्यक्ति गिरावट का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि वहां उत्पादकों को अनाज की बहुत कम कीमत मिल रही थी। अगर अनाज की कीमतें किसी वजह से अधिशेष उत्पादन वाले राज्यों में भी कम हो जाएं तो वहां भी उत्पादन गिरने लगेगा क्योंकि वह पहले ही ठहराव की स्थिति में पहुंच चुका है।[12]

दूसरा, किसानों को मिल रही कम कीमत के बावजूद उपभोक्ताओं द्वारा चुकाई जा रही कीमत में गिरावट नहीं आएगी बल्कि उसमें इजाफा हो सकता है। कहने का मतलब यह है कि किसानों को मिलने वाली कीमत और उपभोक्ता द्वारा चुकाई जा रही कीमत के बीच फासला और बढ़ जाएगा। इस बात का अंदाजा हम अमेरिका की स्थितियों से लगा सकते हैं जहां आहार व्यवसाय पर विशालकाय कृषि कारोबारी कंपनियों का पूरा वर्चस्व स्थापित हो चुका है। उपरोक्त रिपोर्ट में बताया गया है कि 1999 में भारतीय किसानों को गेहूं की जो कीमत मिली वह अमेरिकी किसानों को मिलने वाली कीमत से लगभग 30 प्रतिशत ज्यादा थी मगर भारतीय शहरी उपभोक्ता ब्रेड के लिए अमेरिकी शहरी उपभोक्ताओं के मुकाबले केवल एक चौथाई कीमत अदा कर रहे थे। अनुमान लगाया जा सकता है कि अगर हमारे देश में एफसीआई निजी व्यापार पर अंकुश लगाने के लिए हस्तक्षेप न करे तो यहां क्या हालात बनेंगे।

बहुराष्ट्रीय अनाज कंपनियों के नुमाइंदों ने समिति को बताया था कि वह भारत में अनाज के व्यापार में तब तक बड़े पैमाने पर निवेश नहीं करेंगे जब तक "भारी भंडार की वजह से पैदा होने वाले संभावित खतरे को समाप्त नहीं किया जाएगा।" यहां "भारी भंडार" का आशय 1997–2002 के स्तर से नहीं है बल्कि इसका आशय न्यूनतम बफर स्टॉक

के लंबे समय से चले आ रहे मानकों से है जो एक साल की अवधि में घटते–बढ़ते हुए 160 से 240 लाख टन के बीच रहता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियां चाहती हैं कि इन मानकों में भारी कटौती कर दी जाए। उनका तर्क है कि अगर एफसीआई असामान्य मूल्य वृद्धि पर नियंत्रण रखने के लिए पर्याप्त भंडार बनाए रखेगा तो इससे बहुराष्ट्रीय अनाज व्यापारियों के मुनाफे को "भारी खतरे की आशंका" बनी रहेगी। वह चाहते हैं कि बफर स्टॉक की मात्रा सिर्फ इतनी होनी चाहिए कि उससे सिर्फ वक्ती कमी अभाव या आपातकालिक परिस्थितियों से निपटने का ही काम लिया जा सके। ऐसे में किसी भी प्रकार के उल्लेखनीय मूल्य हस्तक्षेप के लिए सरकार को इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों से अनाज खरीदना पड़ेगा जो आज अंतर्राष्ट्रीय अनाज व्यापार पर नियंत्रण बनाए हुए हैं। लेकिन, भारतीय मांग में इजाफे से अंतर्राष्ट्रीय अनाज बाजार में भी कीमतें बढ़ सकती हैं जिससे आयात का भी कोई मतलब नहीं रहेगा।

दूसरी तरफ, अगर अंतर्राष्ट्रीय कीमतें कम हैं तो निजी व्यापारी भी किसानों को मिलने वाली कीमत कम रखने के लिए उन्हें आयात का भय दिखा सकते हैं। लगता है कि डब्ल्यूटीओ में भारत के दाखिले के बाद आयात के प्रति बढ़ते खुलेपन के कारण यह रवैया अपना असर दिखाने भी लगा है। सामान्य रूप से जब कृषि उत्पादन नीचे चला जाता है तो किसानों को मिलने वाली कीमत बाकी चीजों की कीमतों के मुकाबले ज्यादा तेजी से बढ़ती हैं। मगर 1995–96 और 2002–03 के बीच कृषि उत्पादन और कृषि वस्तुओं के व्यापार की शर्तों में एक साथ गिरावट आई। ऐसा कैसे हुआ? इस पहेली का एक उत्तर यह हो सकता है कि क्योंकि सरकार आयात के रास्ते में लगी रुकावटों को हटाती जा रही थी और वैश्विक कृषि मूल्य गिर रहे थे इसलिए भारतीय व्यापारी किसानों को मिलने वाली कीमत कम रखने के लिए भी आयात की आशंका का इस्तेमाल करने लगे थे।

अंतर्राष्ट्रीय कृषि मूल्यों में अस्थिरता भारतीय बाजारों से भी ज्यादा है। संदर्भ वैश्विक गेहूं मूल्य (यूएस नम्बर 2 एचआरडब्ल्यू) 1996 में 256 अमेरिकी डॉलर प्रति टन के शिखर बिंदु तक पहुंच कर 1999 में 105 डॉलर पर आकर ठहर गया। इसी तरह संदर्भ चावल मूल्य (थाई, 100 प्रतिशत, द्वितीय ग्रेड) 1995 में 400 डॉलर प्रति टन से गिरकर 2001 में 170 डॉलर प्रति टन से भी नीचे जा पहुंचा। इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि आने वाले सालों में अंतर्राष्ट्रीय बाजार में इन चीजों की कीमतें फिर आसमान छूने लगेंगी। ऐसे में देश के किसानों की आय और खाद्य उपभोग को ऐसी अंतर्राष्ट्रीय अस्थिरता के सामने निस्सहाय छोड़ देना आपराधिक कृत्य होगा।

भारत में अनाज उपभोग का वर्तमान स्तर वैश्विक आपूर्ति का लगभग 15 प्रतिशत बैठता है और यह चावल व गेहूं के समूचे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से ज्यादा है। इसका मतलब है कि यदि भारत विश्व बाजार में एक बड़े खरीदार के रूप में पहुंचता है तो यह उसके लिए भयानक जोखिम वाली बात होगी जबकि अंतर्राष्ट्रीय अनाज कंपनियों के लिए यह

कुबेर का खजाना हाथ लग जाने जैसा साबित होगा। इस आशंका को और अच्छी तरह समझने के लिए हम इस तथ्य पर ध्यान दे सकते हैं कि 1998–99 से वैश्विक अनाज उत्पादन का स्तर उपभोग से कम रहा है और चावल व गेहूं के वैश्विक भंडार गिरते जा रहे हैं। खाद्य एवं कृषि संगठन (एफएओ) का अनुमान है कि 2002 में गेहूं के वैश्विक भंडार 20 करोड़ टन थे जबकि चावल के भंडार 13.9 करोड़ टन थे। ये दोनों मात्राएं 1998–99 के मुकाबले उल्लेखनीय रूप से कम हैं और इस्तेमाल की गई मात्रा के अनुपात के रूप में यह ऐतिहासिक रूप से बहुत ही कम है। इसी प्रकार अमेरिकी कृषि विभाग (यूएसडीए) ने तो वैश्विक भंडार की मात्रा और भी कम बताई है। यूएसडीए के मुताबिक 1998–99 में दुनिया भर में 17.6 करोड़ टन गेहूं के भंडार थे जिनमें लगातार गिरावट आती गई और अब वह केवल 15.6 करोड़ टन रह गए हैं। जबकि चावल के भंडार 1999–2000 के 14.4 करोड़ टन से गिरकर अब केवल 12.7 करोड़ टन रह गए हैं। (संदर्भ : दीर्घकालिक अनाज नीति रिपोर्ट)।

बफर स्टॉक मानकों में लगातार कटौती के फलस्वरूप जैसे–जैसे भारत के भंडारों में कमी आएगी और जैसे–जैसे उसका प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन गिरता जाएगा, आयात पर भारत की निर्भरता बढ़ती जाएगी। इसीलिए, साम्राज्यवादी देश यहां मुनाफे की एक लहलहाती फसल काटने को तैयार बैठे हैं :

"एफएओ का अनुमान है कि विकासशील देशों में अनाज का आयात 1995–97 के 10.7 करोड़ टन से बढ़कर 2015 में 19.8 करोड़ टन और 2030 में 27.0 करोड़ टन तक पहुंच जाएगा। और इसका एक बड़ा हिस्सा निकट पूर्व/उत्तरी अफ्रीका तथा पूर्वी एशिया में जा रहा होगा। ऐसे हालात में उत्तरी अमेरिका और यूरोप वैश्विक व्यापार पर अपना एकाधिकारिक नियंत्रण स्थापित कर लेंगे और हो सकता है अपने किसानों को दी जा रही भारी–भरकम सब्सिडी से भी छुटकारा पा जाएं। उस समय अनाज की अंतर्राष्ट्रीय कीमतें कम से कम नब्बे के दशक के मध्य में प्रभावी रही कीमतों के बराबर यानी वर्तमान कीमतों के मुकाबले दोगुना जरूर रहेंगी। " (वही)

इसका मतलब है कि वैश्विक अनाज बाजार में उनकी इजारेदारी उन्हें इतना मुनाफा दे देगी कि वह अपने उत्पादन पर रियायत की मजबूरी से आजाद हो जाएंगे।

इस आशय के संकेत मिलने लगे हैं कि वैश्विक उत्पादन और भंडार में गिरावट की शुरुआत हो चुकी है। अनुमान लगाया जाता है कि 2003–04 के अंत तक गेहूं के वैश्विक भंडार पिछले 20 साल के न्यूनतम स्तर तक पहुंच जाएंगे और चावल के भंडार पिछले साल के मुकाबले 20 प्रतिशत कम रहेंगे। मगर जहां एक तरफ गेहूं के उत्पादन में 10 प्रतिशत गिरावट आई है वहीं उसके उपभोग में इजाफा हुआ है। वैश्विक उपभोग चार करोड़ टन था जबकि उत्पादन इतना नहीं था जिसकी वजह से सुरक्षित भंडारों में 24 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई है। अनाज के मुख्य निर्यातक – अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और कनाडा – इस साल बाजार के 60 प्रतिशत हिस्से पर अपना वर्चस्व बना लेंगे। पिछले साल उनकी

यह स्थिति केवल 40 प्रतिशत बाजार में थी। उम्मीद व्यक्त की जा रही है कि अकेले अमेरिकी निर्यात 3.2 करोड़ टन के पिछले 8 वर्षों के शिखरतम बिंदु तक पहुंच जाएगा। यह मात्रा गेहूं के वैश्विक व्यापार का 32 प्रतिशत बैठती है।[13]

और अंत में : सारा अनाज कहां गया

सरकार ने पीडीएस के लिए निर्धारित अनाज की बिक्री पर निर्यातकों को कितनी सब्सिडी दी? इस बात का हिसाब लगाना मुश्किल है क्योंकि निर्यात के लिए बेची गई मात्रा के बारे में अलग-अलग रिपोर्टें मिली हैं। इस अनाज की कीमत के बारे में भी सही-सही सूचना उपलब्ध नहीं है। सरकारी दस्तावेजों[14] में दिए गए आंकड़ों के मुताबिक अप्रैल 2000 से नवंबर 2003 के बीच निर्यातकों को 248 लाख टन चावल और गेहूं बेचा गया था। प्रेस रिपोर्टों के मुताबिक **निर्यातकों को दी गई सब्सिडी बीपीएल परिवारों को पीडीएस के तहत मिलने वाले अनाज पर दी जा रही सब्सिडी से भी ज्यादा थी।** निर्यात पर सब्सिडी की दर का बहुत संकीर्ण आधार पर अनुमान लगाया जाए तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि निर्यात किए गए अनाज पर 5 से 6 रुपए प्रति किलो सब्सिडी जरूर दी गई होगी। इसका मतलब है कि निर्यातकों को 12,500 करोड़ रुपए से 15,000 करोड़ रुपए तक की सब्सिडी मिली होगी।

इस सब्सिडी का फायदा उठाने वालों में विदेशी कंपनियां भी हैं। दो साल पहले छपी एक रिपोर्ट[15] के मुताबिक उस समय कारगिल नामक अमेरिकी कंपनी भारतीय गेहूं की एक मुख्य खरीदार थी जिसने पिछले 13 माह में बिके चालीस लाख टन अनाज में से 7.5 लाख टन अकेले खरीद लिया था। उसके अलावा हैम्बर्ग स्थित ऐ.सी. टोएफर (5 लाख टन), रोटरडम स्थित कनकोर्डिया (2.1 लाख टन), और ट्रेडीग्रेन (1.8 लाख टन) भी मुख्य खरीदार रहे हैं।

निर्यातकों के अलावा सरकार ने घरेलू अनाज व्यापारियों को भी रियायती दर पर अनाज बेचा है। चार साल में घरेलू व्यापारियों को 137 लाख टन अनाज बेचा गया है। यदि मान लिया जाए कि उन्हें भी उसी दर पर सब्सिडी दी गई होगी जिस दर पर निर्यातकों को सब्सिडी मिली है तो इसका मतलब है कि घरेलू अनाज व्यापारियों को 7,000 से 8,000 करोड़ रुपए की सब्सिडी मिली होगी। **इसका मतलब है कि 2000-01 से 2003-04 के बीच दी गई 79,000 करोड़ रुपए की खाद्य सब्सिडी में से 19,500-23,000 करोड़ रुपए की सब्सिडी निर्यातकों और निजी व्यापारियों की जेब में गई है।**

और अंत में, इस बीच अनाज की चोरी भी तमाम रिकॉर्ड पार कर चुकी है। **पंजाब के गोदामों से 52 लाख टन गेहूं यानी 3,200 करोड़ रुपए का गेहूं 'गायब' पाया गया।**[16] यह मात्रा 2001-02 में पीडीएस के जरिए बेचे गए गेहूं की मात्रा से भी ज्यादा थी। हालांकि एफसीआई के भंडार खातों में यह घटना जनवरी-फरवरी 2003 के बीच

घटित प्रतीत होती है मगर ऐसा लगता है कि वास्तव में यह सिलसिला काफी लंबे समय तक चला होगा। जाहिर है कि इस चोरी के लिए जिम्मेदार लोग प्रभावशाली पदों पर बैठे हुए थे। हालांकि उस वक्त आश्वासन दिया गया था कि जिम्मेदार अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई की जाएगी मगर बाद में इस घटना का कहीं जिक्र तक देखने में नहीं आया।

वस्तुतः विकृतियों का स्तर इससे कहीं ज्यादा है। यह बात आरबीआई द्वारा जारी की गई करेंसी एंड फाइनेंस रिपोर्ट 2002–03 (पृष्ठ 12) में दिए गए आंकड़ों से स्पष्ट हो जाती है कि एफसीआई के भंडार से लगभग 147 लाख टन अनाज गायब है। (1 अप्रैल 2002 को प्रारंभिक भंडार 510 लाख टन थे। उसके बाद अप्रैल 2002 से अक्तूबर 2003 के बीच 637 लाख टन अनाज और खरीदा गया। अगर अनाज की इन दोनों मात्राओं को जोड़ दिया जाए और उसमें से इस बीच बेचे गए अनाज की मात्रा यानी 779 लाख टन को घटा दिया जाए तो 31 अक्तूबर 2003 को 368 लाख टन अनाज होना चाहिए था मगर वह केवल 221 लाख टन पाया गया।) यह अंतर इतना ज्यादा है कि उसके लिए सिर्फ लापरवाही या अनाज के नष्ट हो जाने का हवाला नहीं दिया जा सकता। मगर न तो रिपोर्ट में इस विकृति पर कोई टिप्पणी नही की गई है और न ही प्रेस में अनाज की भारी मात्रा के गायब हो जोने के बारे में कुछ कहा गया है।

ये सारे तथ्य भारी–भरकम 'खाद्य सब्सिडी' बिल को एक अलग ही रंग में पेश कर देते हैं।

टिप्पणियां :

1. सालाना प्रति व्यक्ति 167.9 किलोग्राम प्रति "उपभोग इकाई", जिसे बच्चों, बूढ़ों इत्यादि के उपभोग स्तर में भिन्नता के हिसाब से समायोजित कर लिया जाता है।

2. एम. स्वामीनाथन, वीकनिंग वेलफेयर : दि पब्लिक डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ फूड इन इंडिया, पृष्ठ 97.

3. ट्रुथ एबाउट हंगर एंड डिज़ीज़ इन मुम्बई", नीरज हाटेकर, संजय रोडे, इकॉनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 25/10/03.

4. उत्सा पटनायक ने दर्शाया है कि जैसे–जैसे डेयरी, पशुपालन और मुर्गी पालन जैसी गतिविधियां बढ़ती हैं, पशुओं/मुर्गियों के लिए अनाज की मांग प्रत्यक्ष अनाज उपभोग से आगे निकल जाती है। इसलिए, वस्तुतः जब अर्थव्यवस्था विकसित होती है तो वहां अनाज की मांग बढ़ जाती है जिससे प्रति व्यक्ति अप्रत्यक्ष अनाज उपभोग और कैलोरी उपभोग में इजाफा होने लगता है। जबकि, जैसा कि कीनिया में दिखाई देता है, अगर गैरबराबरी बढ़ती जा रही है और खाद्य पदार्थों तक पहुंच कम हो रही है तो 'आहार विविधता' में भले ही इजाफा हो कैलोरी की मात्रा में गिरावट आती है क्योंकि उच्च वर्ग विविध प्रकार का आहार खाने लगते हैं और गरीबों को मिलने वाले अनाज की मात्रा गिर जाती है।

5. हालांकि सरकार हमें इस बात का यकीन दिलाना चाहती है कि हमारे देश के गरीब अब अनाज की बजाय सब्जी, फल, दूध, अंडे और मांसाहार पर ज्यादा ध्यान देने लगे हैं मगर एनएफएचएस 1998–99 का कहना है कि 6 से 35 माह की उम्र के 74.3 प्रतिशत बच्चे और 51.8 प्रतिशत महिलाएं एनीमिया से पीड़ित हैं। एनीमिया यानी खून में हीमोग्लोबिन (जो ऑक्सीजन को फेफड़ों से शरीर के अन्य ऊतकों और अंगों तक पहुंचाने के लिए जिम्मेदार होता है) की कम मात्रा हमारे आहार में लोहे,

फोलेट्स, विटामिन बी–12 तथा कुछ अन्य पोषक पदार्थों की कमी का परिणाम होती है। इस बीमारी से ग्रस्त गर्भवती महिलाओं में गर्भस्थ शिशु की मृत्यु का खतरा बढ़ जाता है। इसके अलावा समयपूर्व प्रसव तथा जन्म के समय बच्चे का कम वजन भी मां के शरीर में खून की कमी का परिणाम हो सकता है। बच्चों में यह बीमारी बौद्धिक क्षमता में विकलांगता, व्यवहार एवं इंद्रीय विकास में दुर्बलता, समन्वय के अभाव, भाषा के विकास में विलंब और स्कूल में क्षीण प्रदर्शन का कारण बन सकती है। संक्रामक रोगों से ऐसे बच्चे के मरने की आशंका भी सामान्य बच्चों की तुलना में ज्यादा रहती है।

6. उद्धृत संदर्भ स्वीडबर्ग, पीटर, हंगर इन इंडिया – फैक्ट्स एंड चैलेंजेज़ तथा चक्रवर्ती, ललिता, "बायोलॉजिकल स्ट्रेस सिग्नल्स इन दि मिलेट ज़ोन ऑफ इंडिया" से लिए गए हैं।

7. टाइम्स ऑफ इंडिया, 4/05/01.

8. टाइम्स ऑफ इंडिया, 6/03/02.

9. इंडियन एक्सप्रेस, 13/09/02.

10. लोकमत, 15/09/03.

11. इंडियन एक्सप्रेस, 13/09/02; जोर हमारा।

12. इस प्रसंग में यह बड़े दुख की बात है कि यद्यपि समिति ने सरकारी खरीद व्यवस्था और पीडीएस को जारी रखने के प्रति अपना समर्थन व्यक्त किया है मगर उसने कुछ ऐसे निष्कर्ष और सिफारिशें भी की हैं जिनका सरकार अपने निहित उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल कर सकती है। समिति ने अनाज के भारी–भरकम भंडारों के लिए कथित रूप से चावल और गेहूं के अत्यधिक ऊंचे खरीद मूल्यों को जिम्मेदार ठहराया (जबकि वास्तव में भंडारों के इस तरह बढ़ते जाने के पीछे लोगों की घटती क्रय शक्ति, काम के बदले अनाज योजना के अभाव, राशन की दुकानों की भारी–भरकम कीमत और "एपीएल" तबके के लिए सब्सिडी के खात्मे जैसे कई दूसरे तथ्य जिम्मेदार थे)। इस प्रकार समिति ने सरकार को न्यूनतम समर्थन मूल्य में वृद्धि न करने या कटौती करने का एक आसान बहाना मुहैया करा दिया है जबकि अनाज उत्पादक किसान अधिशेष उत्पादन वाले राज्यों में भी बहुत खुशहाल नहीं हैं और हमारा अनाज उत्पादन अत्यंत नाजुक दौर से गुजर रहा है जिसे सक्रिय सरकारी सहायता की आवश्यकता है। दूसरे, समिति ने सुझाव दिया है कि निजी व्यापारियों के रास्ते में खड़ी की गई आर्थिक और कानूनी रुकावटों पर भी अंकुश लगाया जाए। सरकार ठीक इसी तरह के सुझाव चाहती थी हालांकि उसके इरादे बिल्कुल अलग हैं।

13. इकॉनॉमिक टाइम्स, 26/02/09.

14. वर्ष 2000–01 और 2001–02 के लिए दीर्घकालिक अनाज नीति समिति की रिपोर्ट; और 2002–03 तथा 2003–04 के लिए आरबीआई की रिपोर्ट ऑन करेंसी एंड फायनेंस।

15. इकॉनॉमिक टाइम्स, 30/1/02.

16. इकॉनॉमिक टाइम्स, 14/4/03 तथा 23/5/03.

पॉपुलर एजूकेशन एण्ड एक्शन सेंटर (पीस) प्रतिबद्ध और अनुभवी लोगों का ऐसा समूह है जो स्थानीय एवं व्यापक स्तर पर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को मजबूत करने की दिशा में प्रयत्नशील है।

इस क्रम में जीवनयापन के लिए जूझ रह व्यक्तियों एवं समुदायों और अपनी अस्मिता को बचाए रखने तथा जनतांत्रिक मूल्यों के लिए संघर्षरत जन समूहों की जानकारी एवं ज्ञान में बढ़ोत्तरी करना पीस का मुख्य सरोकार रहा है।

विगत कुछ वर्षों से पीस समान सोच वाले समूहों और जन संगठनों के बीच संवाद की प्रक्रिया चला कर व्यापक स्तर पर चलने वाले जन आंदोलन और गठबंधन की प्रक्रिया को भी मजबूत करने हेतु प्रयत्नशील है।

मौजूदा पुस्तिका की तर्ज पर ही हमने पहले भी आम जन जीवन को प्रभावित करने वाले मुद्यो पर शिक्षण सामग्री का निर्माण व प्रकाशन किया है। इस क्रम में कुछ महत्तवपूर्ण सामग्री निम्न है:

- **ज्ञान की पूंजी पर पूंजी का शिकंजा**
- **पूंजी के निशाने पर पानी**
- **बाजारीकरण के दस साल**
- The Noose is Tightening - AOA (July Framework)
- Gats Primer